

# अपभ्रंश भारती

अक्टूबर, 1995

शोध-पत्रिका

7



अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

# अपभ्रंश भारती

वार्षिक  
शोध-पत्रिका  
अक्टूबर, 1995

सम्पादक मण्डल  
श्री नवीनकुमार बज  
श्री रतनलाल छाबड़ा  
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी  
डॉ. कैलाशचन्द जैन  
श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक  
श्री कपूरचन्द पाटनी  
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक  
डॉ. कमलचन्द सोगाणी  
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका  
डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सहायक सम्पादक  
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

**वार्षिक मूल्य :**

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

**फोटोटाइप सैटिंग :**

कॉम्प्रिन्ट, जयपुर

**मुद्रक :**

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

एम. आई. रोड, जयपुर-1

## विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
1.	अपभ्रंश साहित्य का पुनरवलोकन	डॉ. सकलदेव शर्मा	1
2.	पउमचरिउ के कुछ विशिष्ट उत्प्रेक्षा अलंकार	डॉ. रामबरन पाठक	19
3.	'णायकुमारचरिउ' में महाकवि पुष्पदन्त की सौन्दर्य-चेतना	डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव	41
4.	करकंडचरिउ : कथा-रूप और शिल्प	डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	47
5.	संदेश-रासक में प्रकृति-चित्रण	डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा	57
6.	जहिं सुरवरतरुणंदणवणाइँ	महाकवि पुष्पदन्त	66
7.	अपभ्रंश में संवेदना के नये स्तरों का अन्तःसंधान और उनकी प्रासंगिकता	डॉ. शंभूनाथ पाण्डेय	67
8.	तहिँ पुरवरु णामें कणयउरु	महाकवि पुष्पदन्त	76
9.	रासो साहित्य के आधुनिक अध्येता डॉ. विपिनबिहारी त्रिवेदी	सुश्री मंजु शुक्ल	77
10.	जोयइ व कमलसरलोयणेहिँ	महाकवि पुष्पदन्त	82
11.	जोइन्दु की कृतियों में बहिरात्मा का स्वरूप और सन्देश	डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'	83
12.	On Early Apabhramsa	Harivallabh C. Bhayani	91

# अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

## सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार प्रकाशित होगी।  
(इस अंक से पत्रिका वार्षिक कर दी गई है।)
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सें. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता -

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर-302004

## प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येताओं के समक्ष अपभ्रंश भारती का सातवां अंक सहर्ष प्रस्तुत है।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित है। अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म भी अपभ्रंश से ही हुआ है। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक अपभ्रंश में काव्य-निर्माण होता रहा। छठी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश और उत्तरवर्ती अपभ्रंश साहित्य-पटल पर एकछत्र राज्य करती रही। इन्हीं कारणों से अपभ्रंश के अध्ययन-अध्यापन की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

अपभ्रंश साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझते हुए ही दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा अपभ्रंश साहित्य अकादमी की स्थापना की गई। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन को दिशा प्रदान करने के लिए अपभ्रंश रचना सौरभ, प्राकृत रचना सौरभ, अपभ्रंश काव्य सौरभ, पाहुड दोहा चयनिका आदि पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं। पत्राचार के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम व अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम विधिवत् चलाये जा रहे हैं। अपभ्रंश में मौलिक लेखन के प्रोत्साहन के लिए 'स्वयंभू पुरस्कार' भी प्रदान किया जाता है।

प्रस्तुत अंक में विद्वानों द्वारा अपभ्रंश साहित्य पर विभिन्न दृष्टियों से विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जिन विद्वानों ने अपनी रचनाएं भेजकर इस अंक का कलेवर बनाया हम उनके आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादाह हैं। इस अंक के मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादाह है।

कपूरचन्द पाटनी  
मंत्री

नरेशकुमार सेठी  
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

## सम्पादकीय

“अपभ्रंश को अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की जननी होने का श्रेय प्राप्त है। अपभ्रंश की कुक्षि से उत्पन्न होने के कारण हिन्दी का उससे अत्यन्त आन्तरिक और गहरा सम्बन्ध है। अतः राष्ट्रभाषा हिन्दी की मूल प्रकृति और प्रवृत्ति से परिचित होने के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की अनिवार्यता सुभी अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के लिए हमेशा बनी रहेगी। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - “हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश की प्रायः पूरी परम्पराएं ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं।” कहना नहीं होगा कि अपभ्रंश के कालजयी कवियों ने अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा अपभ्रंश के यशस्वी साहित्य और उसके महत्व को शताब्दियों के बाद भी अक्षुण्ण रखने में पूर्ण सफलता अर्जित की है।”

“भाषा विशेष के अर्थ में ‘अपभ्रंश’ शब्द का प्रयोग प्रायः छठी शती ई. के आसपास मिलता है। प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड और संस्कृत के आलंकारिकों में भामह को अपभ्रंश के प्रथम नामोल्लेख का श्रेय प्राप्त है -

शब्दार्थो सहितौ काव्य गद्यपद्यं च तद्विधा।  
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

अपभ्रंश भाषा के विषय में बलभी (सौराष्ट्र) के राजा धरसेन द्वितीय का शिलालेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि. सं. 650 से पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों में प्रबन्ध-रचना में निपुण बताया है।”

“अपभ्रंश के सम्पूर्ण विकासक्रम को डॉ. शिवसहाय पाठक तीन काल-खण्डों में विभाजित करते हैं -

- (अ) आदिकाल (ई. सन् के आसपास से 550 ई. तक),
- (ब) मध्यकाल (550 ई. से 1200 ई. तक) और
- (स) मध्योत्तरकाल (1200 ई. से 1700 ई. तक)।

आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। अपभ्रंश के वैयाकरणों में चण्ड, पुरुषोत्तमदेव, क्रमदीश्वर, हेमचन्द्र, सिंहराज, लक्ष्मीधर, रामशर्मा तर्कवागीश और मार्कण्डेय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जर्मन विद्वान् रिचर्ड पिशेल को आदर के साथ अपभ्रंश का पाणिनी कहा जाता है।”

“अपभ्रंश साहित्य में महाकाव्य का प्रथम रचयिता महाकवि स्वयंभू की विलक्षणता से कोई भी साहित्यविद् अपरिचित नहीं होगा। कवि की तीव्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपी लेखनी ने प्रस्तुत महाकाव्य में मूर्त-अमूर्त, प्रस्तुत-अप्रस्तुत, रस, गुण, रीति, शब्द-शक्ति, छन्द, शेष अन्य अलंकार आदि को उत्प्रेक्षा अलंकार का वाहक बनाकर काव्य के शिल्प-विधान में एक नया मोड़ दे दिया है।” “इस कृति में कवि ने वर्ण अलंकार, छन्द, रस, दिवा-रात्रि, संध्या-प्रभात,

नगर, ऋतु, ज्योतिष, पराक्रम एवं शौर्य-युद्ध से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के कारक तथा जीवनोपयोगी समग्र वस्तुओं के कारकों की महत्ता उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा दिखाते हुए काव्य-कलेवर एवं सुन्दरता में अभिवृद्धि कर दी है। वह किसी एक उपमान से संतुष्टि नहीं पाता है क्योंकि उसके ज्ञान की पिपासा अनन्त है। इसलिए वह उपमानों की लड़ी पर लड़ी पिरोता चलता है। कभी भी थकता हुआ प्रतीत नहीं होता है।”

“जैन अपभ्रंश साहित्य की धारा हमें विक्रम की आठवीं सदी से सोलहवीं सदी तक प्राप्त होती है।” “जैन अपभ्रंश साहित्य सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धर्मप्रधान काव्य होते हुए भी इनमें चारित्रों को अतिमानवीय रूप नहीं दिया गया है। जगत और जीवन के प्रति इन कवियों का दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ और सन्तुलित रहा है।”

“अपभ्रंश के चरितकाव्यों में ‘णायकुमारचरिउ’ का श्रेष्ठ स्थान है। इस चरितकाव्य के प्रणेता महाकवि पुष्पदन्त (ईसा की दसवीं शती) अपभ्रंश के महाकाव्यों में धुरिकीर्तनीय हैं। इनकी प्रख्यात काव्यत्रयी (तिसड्डिमहापुरिसगुणालंकार, जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ) में काव्यगुण-भूयिष्ठता की दृष्टि से णायकुमारचरिउ शिखरस्थ है।” “विकसित कला-चैतन्य से समन्वित यह चरितकाव्य न केवल साहित्यशास्त्र अपितु सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करता है। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक मूल तत्त्वों में पदशय्या की चारुता, अभिव्यक्ति की वक्रता, वचोभंगी का चमत्कार, भावों की विच्छित्ति या श्रृंगारिक भंगिमा, अलंकारों की शोभा, रस-परिपाक, रमणीय कल्पना, हृदयावर्जक बिम्ब, रम्य-रुचिर प्रतीक, आदि प्रमुख हैं। कहना न होगा कि ‘णायकुमारचरिउ’ में इन समस्त कलातत्त्वों का यथायथ विनियोग उपलब्ध होता है। संक्षेप में कहें तो, यह चरितकाव्य रूप, शैली और अभिव्यक्ति, कला-चेतना की इन तीनों व्यावर्तक विशेषताओं से विमण्डित है।”

“करकंडचरिउ में कथा-काव्यों की जितनी कथा-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है, उतनी अन्य किसी में नहीं। फिर, इसके कथा-विन्यास एवं संघटन में, मूलकथा के साथ अवान्तर कथाओं के संयोजन में, लोक-भाषा अपभ्रंश के सहज ग्राह्य, सरल एवं लाक्षणिक प्रयोग में, रस और परिस्थिति के अनुरूप छन्द-विधान में एवं अभिव्यंजना की विविध नूतन-पुरातन शैलियों के शिल्प की दृष्टि से इन प्रबन्ध काव्यों में खण्डकाव्य और महाकाव्य दोनों मिलते हैं। कडवकबद्ध शैली का प्रयोग लगभग सभी रचनाओं में किया गया है। अलंकार-परम्परा के पालन के साथ ही इन्होंने तत्कालीन जीवन से नये उपमान भी लिये हैं। तत्कालीन इतिहास के अध्ययन और अनुसंधान की दृष्टि से भी जैन अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है।”

“अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंग - कथासाहित्य, काव्य, छन्द और काव्यरूप सभी प्रभावित और पल्लवित हुए तो इसमें किसी को कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। हिन्दी के आदि महाकाव्य ‘पृथ्वीराज रासो’ पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

“तुलसीदास के ‘रामचरितमानस’ पर स्वयंभूरचित ‘पउमचरिउ’ का प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है।” “केशवदास की ‘रामचन्द्रिका’ अपभ्रंश काव्य ‘जिनदत्तचरित’ से

प्रभावित है और सूरदास के गेय पदों में 'गाथा सप्तशती' की झलक मिलती है। मीरा की वाणी अपभ्रंश लोकगीत परम्परा के अत्यन्त निकट है। मध्यकालीन हिन्दी कविता और रीतिकालीन शृंगारी काव्य भी अपभ्रंश के शृंगार काव्य से अत्यधिक प्रभावित हैं।”

“हिन्दी काव्य का विषय ही नहीं उसकी रचनाशैली और छन्दों पर भी अपभ्रंश साहित्य का स्पष्ट प्रभाव है। अलंकारों के लिए भी हिन्दी अपभ्रंश की ऋणी है। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में अपभ्रंश से आया। अपभ्रंश की अनेक लोकोक्तियों, मुहावरों और कथानक रूढ़ियों को भी हिन्दी ने सहर्ष अपना लिया है।”

“इस तरह, भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित है। यही कारण है कि अपभ्रंश की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है और अध्येता आज भी अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन की अनिवार्यता को शिद्दत के साथ महसूस करते हैं।”

“महाकवि स्वयंभू के परम्पराबद्ध प्रकृति-चित्रण में अलंकारों का खुलकर प्रयोग हुआ है। महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने 'महापुराण' में प्राकृतिक दृश्यों की झड़ी लगा दी है। प्राकृतिक दृश्य चित्रण में प्रकृति का आलंबनरूप में मनोमुग्धकारी चित्र प्रस्तुत करना 'महापुराण' की विशेषता है। इस परम्परा में भविसयत्तकहा, हरिवंशपुराण, जसहरचरिउ, जम्बूसामिचरिउ, करकण्डचरिउ, पउमसिरिचरिउ आदि अनेक अपभ्रंश काव्यों को देखा जा सकता है।”

“अपभ्रंश काव्यों की परम्परा में लौकिक खण्ड काव्य 'संदेश-रासक' का प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से कई अर्थों में विशेष महत्व है। यह रचना एक प्रकार से प्रकृतिपरक जनभावना की सहज अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक सौन्दर्य ने भौगोलिक सीमाओं को भी सजीव कर दिया है। 'संदेशरासक' का पाठक पथिक और रमणि के दृश्य-चित्रण में खो जाता है। वह तादात्म्य स्थापित कर ऐसा अनुभव करता है जैसे वह स्वयं खुली प्रकृति के आँगन में आ खड़ा हुआ हो। यही 'संदेश रासक' के प्रकृति-चित्रण की विशेषता है।”

“अध्यात्मवेत्ता कवि मनीषी जोइन्दु अपभ्रंश साहित्य के कुन्दकुन्द माने जाते हैं। वे एक आत्मसाधक योगी थे। उन्होंने जीवनभर आत्मारोधना की और आत्मा को ही अपनी रचनाओं का केन्द्र-बिन्दु बनाकर अध्यात्म-क्षेत्र को नया आयाम दिया।” “मोक्ष पुरुषार्थ से अनुप्राणित जोइन्दु की कृतियों का कथ्य आत्मोद्धारक है। इनमें आत्मा के विभिन्न रूपों की विवेचना है। बहिरात्मा को अन्तरात्मा/आत्मज्ञानी बनने का सन्देश दिया गया है।”

“डॉ. त्रिवेदी का रासो सम्बन्धी अध्ययन मौलिक, वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण तथा विचारोत्तेजक है। उन्होंने एक नये सिरे से रासो के विविध पक्षों को उद्घाटित किया।”

“अपभ्रंश लौकिक धरातल पर उतरकर अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनती चली जा रही थी। भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक अपभ्रंश के कवियों का काव्य-निर्माण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। छठी शताब्दी से लेकर 14वीं-15वीं शताब्दी तक अपभ्रंश और उत्तरवर्ती अपभ्रंश या

अवहट्ट अथवा पुरानी हिन्दी साहित्य-पटल पर एकछत्र राज करती रही । यह अपभ्रंश भाषा और उसकी संवेदना के पारस्परिक सामंजस्य के कारण ही संभव हो सका।'' ''अपभ्रंश के कवियों की संवेदनाएं समाज के व्यापकतर छोर को छूती हैं। ये वे कवि नहीं हैं 'जिन्हें न व्यापे जगत गति'। अपभ्रंश की कविता की जड़ें अपने सामाजिक परिवेश में गहरे स्तर तक उतरती हैं। मर्म को छूती हैं। सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति देती हैं। सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का जायजा देती हैं। जहाँ भद्रजनों के भावों की ऊँचाई मापती हैं वहीं आम जनता के विभिन्न रूपों की पहचान का प्रयास भी करती हैं।''

जिन विद्वान लेखकों ने अपनी रचनाएं भेजकर अंक प्रकाशन में हमें सहयोग किया हम उनके आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक-मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी



# अपभ्रंश साहित्य का पुनरवलोकन

- डॉ. सकलदेव शर्मा



अपभ्रंश को अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की जननी होने का श्रेय प्राप्त है। अपभ्रंश की कुक्षि से उत्पन्न होने के कारण हिन्दी का उससे अत्यन्त आन्तरिक और गहरा सम्बन्ध है। अतः राष्ट्रभाषा हिन्दी की मूल प्रकृति और प्रवृत्ति से परिचित होने के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की अनिवार्यता सुधी अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के लिए हमेशा बनी रहेगी। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश की प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं।" कहना नहीं होगा कि अपभ्रंश के कालजयी कवियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा अपभ्रंश के यशस्वी साहित्य और उसके महत्त्व को शताब्दियों के बाद भी अक्षुण्ण रखने में पूर्ण सफलता अर्जित की है। प्रस्तुत आलेख द्वारा अपभ्रंश के उद्भव-विकास, उसके अमर रचनाकारों, उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं, साहित्यिक अवदानों और हिन्दी साहित्य पर पड़े प्रभावों आदि से पाठकों को परिचित कराना हमें अभीष्ट है।

'अपभ्रंश' शब्द 'भ्रंश' धातु में 'अप' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। 'वाचस्पत्य' में अपभ्रंश के विषय में कहा गया है - "अप+भ्रंश+घञ्, अप क्षरणे, अधःपतने। अपभ्रंशति स्वभावात्प्रच्यवते। अप+भ्रंश-कर्तरि अच्। साधु शब्दस्य शक्ति-वैफल्यप्रयुक्तान्यथोच्चारणयुक्ते अपशब्दे त एव शक्तिवैफल्य प्रमादालसतादिभिः अन्यथोऽच्चरिताः शब्दा अपशब्दा इतीरिताः। अप शब्द अपवैपरीत्ये।"

‘शब्दकल्पद्रुम’ के अनुसार – “अप+भ्रंश+घञ् ग्राम्य-भाषा। अपभाषा तत्पर्यायः अपशब्द इत्यमरः। पतनम्। अधःपतनम्। ध्वंसः। अधोगतिः।” ‘अप’ उपसर्ग और ‘भ्रंश’ धातु दोनों का प्रयोग अधःपतन, गिरना, पतित या विकृत होना आदि के अर्थ में होता है।

अतः अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ है – च्युत, भ्रष्ट, खलित, पतित, अशुद्ध, विकृत। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में – “भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द-रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं।”

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में ‘अपभ्रंश’ और ‘अपभ्रष्ट’ दोनों नाम मिलते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में अपभ्रंश के लिए अवहंस, अवब्भंस, अवहत्थ, अवहट, अवहट्ट, अवहठ, अवहट्ट का प्रयोग किया गया है। मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति ने अपभ्रंश को अवहट्टा की संज्ञा दी है –

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जंपओं अवहट्टा।

‘पउमचरिउ’ में महाकवि स्वयम्भू अत्यन्त गर्वीले, स्वाभिमान दीप्त, स्वर में अपनी देशी भाषा अपभ्रंश को ‘सामण्णभासा’ (सामान्यजन की भाषा) और ‘गामिल्लभासा’ (ग्राम्य भाषा) कहते हैं –

सामण्ण भास छुडु सावडउ। छुडु आगम-जुत्ति का वि घडउ।

छुडु होन्तु सुहासिय-वयणाइं। गामिल्लभास परिहरणाइं ॥ 1.3.10-11

इन सभी अपभ्रंशमूलक शब्दों के अर्थ समान हैं पर भाषा के लिए ‘अपभ्रंश’ संज्ञा ही सर्वस्वीकृत है। तिरस्कारसूचक यह नाम संस्कृत के आचार्यों ने इस भाषा को दिया है। संस्कृत शब्द के ‘साधु’ रूपों के अतिरिक्त लोक तथा साहित्य में प्रचलित भिन्न शब्द-रूपों को महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि ने ‘अपशब्द’ या ‘अपभ्रंश’ संज्ञा दी और महर्षि प्रदत्त इस संज्ञा को बिना आपत्ति के सबों ने अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया। श्री रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – “प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जबतक भाषा बोलचाल में थी तबतक वह भाषा या देशभाषा कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।”

संग्रहकार व्याडि ‘अपभ्रंश’ शब्द से भलीभाँति परिचित थे। पतञ्जलि (दूसरी शताब्दी ई.पू.) और भर्तृहरि (पाँचवीं शताब्दी) दोनों ने आचार्य व्याडि का नामोल्लेख किया है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपभ्रंश का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है – “भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।” अर्थात् अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश मिलते हैं, जैसे – ‘गौः’ शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका और इसी प्रकार के अन्य शब्द अपभ्रंश हैं। स्पष्ट है कि पतञ्जलि ने अपभ्रंश का प्रयोग किसी भाषा के लिए नहीं किया है।

भाषा वैज्ञानिकों ने भरत के नाट्यसूत्र के इस अंश पर विचार करते हुए अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों की भाषा से जोड़ा है -

हिमवत्सिन्धु सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः ।  
उकारबहुलां तञ्जस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

दण्डी ने भी अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बतलाया है। आचार्य भरत ने बिना अपभ्रंश का नाम लिये उसकी विशेषता, उकारबहुलता को रेखांकित किया है। भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग प्रायः छठी शती ई. के आसपास मिलता है। प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड और संस्कृत के आलंकारिकों में भामह को अपभ्रंश के प्रथम नामोल्लेख का श्रेय प्राप्त है -

शब्दार्थी सहितौ काव्यं गद्यपद्यं च तद्विधा ।  
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥

- काव्यालंकार, 1.16

अपभ्रंश भाषा के विषय में वलभी (सौराष्ट्र) के राजा धरसेन द्वितीय का शिलालेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि. सं. 650 के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों में प्रबन्ध-रचना में निपुण बतलाया है -

“संस्कृत प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्धरचनानिपुण-तरान्तःकरणः।” स्पष्ट है कि गुहसेन के समय में ‘अपभ्रंश’ भाषा के रूप में पर्याप्त समादृत हो चुकी थी। महाकवि राजशेखर (880-920) के समय तक अपभ्रंश को राजदरबारों में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। सम्राट हर्षवर्द्धन का दरबार संस्कृत कवियों और पण्डितों से भरा रहता था। अपभ्रंश और जनभाषा के कवियों को उस समय कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त राजपूत राजाओं की राजधानियाँ स्थापित होने लगीं और लोकभाषा का आदर क्रमशः बढ़ने लगा। आभीरों और गुर्जरो ने अपभ्रंश में सृजनात्मक साहित्य रचकर इसे साहित्यिक महिमा से मण्डित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पाल और राष्ट्रकूट राजाओं ने देशभाषा को संरक्षण देने में विशेष रुचि दिखलायी। चौरासी सिद्ध कवि पालों के शासन काल में ही हुए। स्वयम्भू और पुष्पदन्त जैसे महाकवियों की प्रतिभा का प्रस्फुटन भी राष्ट्रकूटों की छत्रछाया में ही हुआ। राष्ट्रकूट राजा जैन थे और उनकी प्रजा का अधिकांश सम्पन्न समाज जैन वैश्य था। अतः उन्होंने जैनों द्वारा बोली और लिखी जानेवाली भाषा अपभ्रंश को संरक्षण दिया तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के पश्चात् पाटण के सोलंकी राजाओं ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

‘विष्णुधर्मोत्तर’ में देशभेद से अपभ्रंश के अनन्त भेद माने गये हैं। रुद्रट ने - ‘भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः’ के द्वारा अपभ्रंश के अनेक भेदों की बात कही थी। नमिसाधु (उपनागर, आभीर, ग्राम्य) और मार्कण्डेय (नागर, उपनागर, ब्राचड) ने अपभ्रंश के तीन भेदों का उल्लेख किया है। विभिन्न विद्वान् अपभ्रंश के तीन से लेकर सत्ताइस भेदों का नामोल्लेख करते हैं। डॉ. जी. वी. तगारे पूर्वी अपभ्रंश, दक्षिणी अपभ्रंश और पश्चिमी अपभ्रंश के रूप में अपभ्रंश का वर्गीकरण करते हैं।

अपभ्रंश के सम्पूर्ण विकासक्रम को डॉ. शिवसहाय पाठक तीन काल-खण्डों में विभाजित करते हैं -

1. आदिकाल (ई. सन् के आसपास से 550 ई. तक),
2. मध्यकाल (550 ई. से 1200 ई. तक) और
3. मध्योत्तर काल (1200 ई. से 1700 ई. तक)।

आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। अपभ्रंश के वैयाकरणों में चण्ड, पुरुषोत्तमदेव, क्रमदीश्वर, हेमचन्द्र, सिंहराज, लक्ष्मीधर, रामशर्मा तर्कवागीश और मार्कण्डेय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जर्मन विद्वान् रिचर्ड पिशेल को आदर के साथ अपभ्रंश का पाणिनी कहा जाता है।

अपभ्रंश के कवियों में स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, कनकामर, अब्दुल रहमान, धाहिल, जिनदत्त सूरि, जोइन्दु, रामसिंह, लक्ष्मीचन्द या देवसेन, लुईपा, सिद्धकवि भुसुक, दीपकर, श्रीज्ञान, किलपाद, कृष्णाचार्य, धर्मपाद, टेंटया, महीधर, आचार्य हेमचन्द्र सूरि और कम्बलांवरपाद आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध तांत्रिकों, वज्रयानियों, चौरासी सिद्धों, नाथपंथियों-आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ भीमनाथ, सत्यनाथ, हरिशचन्द्र और ज्ञानेश्वरनाथ आदि ने भी अपभ्रंश में अपनी रचनाएँ जनसामान्य के सम्मुख रखीं। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इन सिद्धों ने - "उसी सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे - भइले, बूड़िलि) मिले हुए हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्यभाषा का ढांचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पश्चिमी हिन्दी) का था।"।

सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य को चार प्रमुख धाराओं में विभाजित, विश्लेषित किया जा सकता है -

1. जैन अपभ्रंश साहित्य,
2. बौद्ध सिद्ध अपभ्रंश साहित्य,
3. शैव अपभ्रंश साहित्य,
4. ऐहिकतापरक अपभ्रंश साहित्य।

जैन अपभ्रंश साहित्य की धारा हमें विक्रम की आठवीं सदी से सोलहवीं सदी तक प्राप्त होती है। प्राकृत की तरह इसमें भी मुक्तक और प्रबन्ध दो तरह की रचनाएँ मिलती हैं। मुक्तक शाखा की एक उपशाखा 'रहस्यवादी धारा' कही जा सकती है। महाकवि जोइन्दु (योगीन्दु), रामसिंह और सुप्रभाचार्य इस धारा के महत्त्वपूर्ण कवि हैं।

महाकवि जोइन्दु अपभ्रंश के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक कवि हैं। अपभ्रंश साहित्य के रहस्यमय निरूपण में इनका नाम सर्वोपरि है। इनके माता-पिता, स्थान और काल आदि के विषय में अबतक प्रामाणिक रूप से कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। अधिकतर इतिहासकारों के

अनुसार विक्रम की सातवीं शताब्दी के आसपास इनका जन्म हुआ था। ये जैनधर्म के दिगम्बर आम्नाय के आचार्य और उच्चकोटि के रहस्यवादी साधक थे।

‘परमात्मप्रकाश’ और ‘योगसार’ इनकी दो विशिष्ट उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनमें आत्मा, परमात्मा और मोक्ष सम्बन्धी प्रश्नोत्तर तथा नैतिक उपदेश हैं। जोइन्दु ने ‘परमात्मप्रकाश’ की रचना अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट के कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए की थी। इसमें आत्मा का त्रिविध रूप - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा - वर्णित है। जैनदर्शन पर आधारित इस आध्यात्मिक ग्रंथ का अपभ्रंश के मुक्तक काव्यों में सर्वोच्च स्थान है।

महाकवि जोइन्दु की दूसरी रचना ‘योगसार’ में आध्यात्मिक गूढ़ताओं को अत्यन्त सरलता से विवेचित किया गया है। इसमें योग द्वारा मुक्ति के उपायों का वर्णन किया गया है। अपभ्रंश के विशिष्ट छन्द ‘दोहा’ में इन दोनों ग्रन्थों की रचना की गयी है। साम्प्रदायिकता से अलिप्त होने के कारण ये दोनों रचनाएँ काफी लोकप्रिय हुईं। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से आध्यात्मिक तत्त्वों को बोधगम्य बनाने में जोइन्दु काफी सफल हुए हैं। परवर्ती अपभ्रंश कवियों के साथ ही हिन्दी के सन्त कवियों पर भी इन दोनों रचनाओं का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

‘पाहुड दोहा’ रामसिंह का एकमात्र ग्रन्थ है। इनके विषय में भी हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है। इनका समय दसवीं शताब्दी के आसपास है। राहुलजी के अनुसार मुनि रामसिंह राजस्थान के निवासी थे। आप साम्प्रदायिकता और संकीर्णताओं के विरोधी उदारमना चिन्तक थे। अपने समय में इन्होंने निरक्षर जनसामान्य के लिए ज्ञान का सहज द्वार खोलकर अपनी क्रान्तिकारी प्रगतिशीलता का परिचय दिया था।

‘पाहुड दोहा’ में गुरु, आत्मसुख, शरीर, आत्मा, समरसी भाव और मोक्ष आदि का वर्णन है। नारी निंदा तथा नीति सम्बन्धी बातें भी इसमें देखने को मिलती हैं। ‘पाहुड’ यहाँ ‘उपहार’ के अर्थ में प्रयुक्त है। इसमें आत्मानुभूतियों का संग्रह है, जिसे उपहार के रूप में कवि ने पाठकों के समक्ष रखा है। इसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है जो अत्यन्त सरल, सहज और पैनी है। अपनी संक्षिप्त, सटीक और भावपूर्ण आकर्षक अभिव्यंजना के लिए कवि रामसिंह सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य में सदा अविस्मरणीय बने रहेंगे।

सुप्रभाचार्य की रचना का नाम ‘वैराग्यसार’ है। इसमें माया-ममता और सांसारिक सुखों से दूर रहकर वैराग्य भाव अपनाने पर बल दिया गया है। महाणंदि (1000 ई. से 1400 ई. के मध्य) का ‘आणन्दा’ और महचन्द (1600 ई.) का ‘दोहा पाहुड’ भी इस धारा की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। दूसरे सम्प्रदायों के प्रति उदारता, विचारों में प्रगतिशीलता और चारित्रिक शुद्धता आदि इस धारा की रचनाओं की मुख्य विशेषताएँ हैं।

मुक्तक शाखा की दूसरी उपशाखा ‘उपदेशात्मक धारा’ है। देवसेन, जिनदत्त सूरि और महेश्वर सूरि इस धारा के मुख्य कवि हैं। देवसेन (संवत् 990) रचित ‘सावयधम्म दोहा’ इस धारा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। ‘चर्चरी’, ‘उपदेश रसायन’ और ‘कालस्वरूप कुलक’

जिनदत्त सूरि (संवत् 1132 से 1210) की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनमें मानव जीवन, आत्मोद्धार, लौकिक-पारलौकिक शिक्षाओं, गुरु-प्रशंसा और कुटुम्ब संगठन आदि पर विशेष बल दिया गया है। 'संयम मंजरी' महेश्वर सूरि की रचना है, जिसमें संयम को जीवन के सर्वोत्तम साधन के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें साहित्यिकता का अभाव परिलक्षित होता है।

इस धारा के कवि परलोक की अपेक्षा 'लोक' पर विशेष बल देते हैं। नैतिकता, निर्लिप्तता, लोक और परिवार कल्याण आदि इनकी चिन्ता के प्रधान विषय हैं। जयदेव मुनि (संवत् 1054) की 'भावना संधि प्रकरण' और विनयचन्द्र मुनि की 'कल्याणकरासु' एवं 'चूनड़ी' आदि इसी धारा के अन्तर्गत परिगणनीय हैं।

जैन अपभ्रंश साहित्य में प्रबन्ध काव्य पर्याप्त मात्रा में लिखे गये। महाकवि स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, धवल, धनपाल, हरिषेण, वीरकवि, नयनन्दि, कनकामर, रयधू, आचार्य हेमचन्द्र, श्रीचन्द्र, देवसेनगणि, हरिभद्र, लखण, लखमदेव, जयमित्रहल और हरिदेव आदि इस धारा के महत्त्वपूर्ण ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं।

महाकवि स्वयम्भू अपभ्रंश की अनामिका पर अधिष्ठित कालिदास हैं। अपभ्रंश में रामकाव्य के प्रथम प्रणेता होने के कारण हम इन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि भी कह सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ ही वे काव्य, व्याकरण अलंकार और छन्दशास्त्र के निष्णात विद्वान् थे। विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी में इनका जन्म कर्नाटक में हुआ था। इनके पिता का नाम मारुतदेव और माता का नाम पद्मिनी था।

'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ' और 'स्वयम्भूछन्द' स्वयम्भू की सुख्यात कृतियाँ हैं। 'पउमचरिउ' रामकथा पर आधारित है और इसमें पाँच काण्ड हैं। गुरु-वन्दना से कथा आरम्भ होती है, इसके सभी पात्र जिनभक्त हैं। कथा के अन्त में राम निर्वाण प्राप्त करते हैं और मुनीन्द्र उपदेश देते हुए कहते हैं कि राग से दूर रहकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

'रिट्ठणेमिचरिउ' का सम्बन्ध हरिवंश तथा महाभारत की कथा से है। इसमें जैनों के बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण एवं पाण्डवों का चित्रण किया गया है। 'स्वयम्भूछन्द' छन्दशास्त्र का ग्रन्थ है। इसे अगर हम अपभ्रंश का 'अष्टाध्यायी' कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसके प्रथम तीन अध्यायों में प्राकृत के वर्णवृत्तों का तथा शेष पाँच अध्यायों में अपभ्रंश के छन्दों का विशद विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

लोकभाषा में काव्य रचनाकर स्वयम्भू ने अपभ्रंश को साहित्यिक गरिमा प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य किया और सदा के लिए अमर हो गये। महाकवि तुलसीदास से शताब्दियों पूर्व उन्होंने लोकभाषा में काव्य-सृजन को प्राथमिकता दी थी। महाकवि बाणभट्ट की तरह इनकी अधूरी कृतियों को भी पूरा करने का श्रेय इनके पुत्र त्रिभुवन को प्राप्त है। वस्तुतः महाकवि स्वयम्भू अपभ्रंश के प्रथम आचार्य और कालजयी रचनाकार हैं। 'पउमचरिउ' में उनकी मौलिक उद्भावनाएँ अत्यन्त आकर्षक और मनोहारी हैं। इस दृष्टि से 'पउमचरिउ' के प्रारम्भ

में कंचुकी द्वारा वृद्धावस्था का यथातथ्य वर्णन और उसपर राजा दशरथ की प्रतिक्रिया आदि दर्शनीय है।

अपभ्रंश साहित्य में महाकवि स्वयम्भू के बाद महाकवि पुष्पदन्त का नाम आता है। कर्नाटक प्रदेशान्तर्गत बरार निवासी पुष्पदन्त कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवभट्ट और माता का नाम मुग्धादेवी था। पुष्पदन्त पहले शैव मतावलम्बी थे। बाद में अपने आश्रयदाता के अनुरोध पर जैन धर्मावलम्बी होकर कविकर्म में प्रवृत्त हो गये थे।

‘तिसट्टि महापुरिसगुणालंकार’ अथवा ‘महापुराण’ ‘णायकुमारचरित’ और ‘जसहरचरित’ पुष्पदन्त की तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ‘महापुराण’ आदिपुराण और उत्तरपुराण नामक दो खण्डों में विभक्त है। इसमें चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेवों की कथाएँ वर्णित हैं। भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से यह एक प्रशंसनीय रचना है।

‘णायकुमारचरित’ खण्डकाव्य है जिसमें श्रुतपंचमी का माहात्म्य-वर्णन और नागकुमार का चरित्रांकन किया गया है। ‘जसहरचरित’ भी चरित्रप्रधान काव्य है। इसमें यशोधर की जीवन-कथा वर्णित है। अपभ्रंश भाषा की महत्त्वपूर्ण रचना होने के साथ ही इसे महाकवि पुष्पदन्त की सर्वाधिक प्रशंसित कृति होने का सौभाग्य प्राप्त है। प्रकृति और उसके सौन्दर्य से अत्यन्त निकटतर परिचय होने के कारण पुष्पदन्त के वर्णन अत्यन्त जीवन्त और कलात्मक हैं। वे आत्म-सम्मानि और स्वाभिमानी पुरुष थे। ‘महापुराण’ के अनुसार व्यक्ति के स्वाभिमान का खण्डन उन्हें कतई स्वीकार नहीं था - “णउ पुरिसहुअहिमाणविहंडणु।”

महाकवि पुष्पदन्त ने विशुद्ध धार्मिक भाव से साहित्य-सृजन का कार्य किया है। ‘महापुराण’ के प्रथम अध्याय में उन्होंने स्पष्ट लिखा है - “भैरव राजा की स्तुति में काव्य बनाने से जिस ‘मिथ्यात्व’ ने जन्म लिया था, उसे दूर करने के लिए ही मैंने ‘महापुराण’ की रचना की है।” शुद्ध धार्मिक भाव से साहित्य-सृजन की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से हिन्दी में भी आयी। फलस्वरूप आदिकाल में धार्मिक साहित्य की एक स्वतंत्र धारा प्रवाहित होती रही, जिसका विकास मध्यकालीन भक्तिकाव्य के रूप में हुआ। इस भक्तिधारा के आविर्भाव में महाकवि स्वयम्भू का उल्लेखनीय योगदान था और इसे पल्लवित-पुष्पित करने में महाकवि पुष्पदन्त ने अपनी समस्त काव्यात्मक प्रतिभा अर्पित कर दी थी। इनका जन्म विक्रम की दसवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में हुआ था।

पद्मकीर्ति की प्रसिद्ध रचना ‘पासचरित’ है जिसमें पार्श्वनाथ का सम्पूर्ण चरित्र वर्णित है। इनका समय संवत् 992 के आसपास है। धवल ने ‘रिट्ठणेमिचरित’ नामक विशाल ग्रंथ की रचना की थी। इनका समय विक्रम की दसवीं-ग्यारहवीं सदी है। अपभ्रंश के प्रमुख कवि धनपाल ने दसवीं सदी में ‘भविसयत्तकहा’ की रचना की थी। इसमें सज्जन-दुर्जन-स्मरण तथा श्रुतपंचमी-फल की व्याख्या करते हुए कथा का श्रीगणेश किया गया है। धर्मभावना इस कथा का भी मेरुदण्ड है तथापि लोकहृदय की विभिन्न स्थितियों से इसका निकटतर सम्बन्ध है। इसमें स्वाभाविक

घटनाओं के संयोजन द्वारा एक वणिक की कथा वर्णित है। धनपाल की यह काव्यकृति चरित-काव्यों की एक नयी कड़ी है, जिसका प्रभाव आदिकालीन हिन्दी रचनाओं पर भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। हरिषेण की रचना 'धर्मपरीक्षा' कर्मकाण्ड पर करारा व्यंग्य करती है। पुराण-कथाओं पर भी इसमें कटु प्रहार किया गया है। इसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग कवि के विस्तृत छन्दज्ञान का परिचायक है। इनका समय विक्रम संवत् 1040 के आसपास है।

महाकवि वीर की गणना अपभ्रंश के यशस्वी कवियों में होती है। इनके पिता देवदत्त भी महाकवि थे। इनका जन्म मालवा के गुलखेड़ नामक गाँव में एक जैन धर्मावलम्बी परिवार में ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। इनका जीवनकाल विक्रम संवत् 1010-1085 तक माना गया है। इनकी माँ का नाम श्री संतुवा था। महाकवि वीर प्रारम्भ में संस्कृत में काव्य-रचना करते थे, परन्तु बाद में वे अपभ्रंश में रचना करने लगे।

अपनी एकमात्र कृति 'जंबूसामिचरिउ' के कारण इन्हें अपभ्रंश साहित्य में अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसमें जैनधर्म के अन्तिम केवलि 'जंबूस्वामी' का जीवन-चरित ग्यारह सन्धियों में वर्णित है। जंबूस्वामी भगवान महावीर के गणधर सुधर्मा स्वामी के शिष्य थे। भगवान महावीर के निर्वाण के चौसठ वर्ष बाद इन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ था। जंबूस्वामी के कथानक को महाकाव्योचित महिमा से मण्डित कर महाकवि वीर ने अपभ्रंश साहित्य को अलंकृत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जंबूस्वामी में मनुष्य जन्म को रत्न के समान - "इय मणुयजम् माणिककसमु" - बताया गया है और कहा गया है कि जो मूढ़ व्यक्ति रति-सुख और विषय-वासनाओं में अन्धा बना रहता है, वह नाश को प्राप्त होता है - "इय विसयंधु मूढ जो अच्छइ/कवणभंति सो पलयहो गच्छइ।"

कवि नयनन्दि मुनि जैन आचार्य श्री कुन्दकुन्द की परम्परा में आते हैं। आप संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के उच्चकोटि के विद्वान् तथा छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र के निष्णात आचार्य थे।

'सुदंसणचरिउ' और 'सयल विहिविहाणकव्व' नयनन्दि मुनि रचित दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'सुदंसणचरिउ' में सुदर्शन केवलि का चरित्रांकन किया गया है - 'हे पुत्री ! तुम्हारे द्वारा स्वप्न में श्रेष्ठ, ऊँचा और सुन्दर पर्वत देखा गया अतः इसका नाम सुदर्शन रखा जाए...'। इसकी रचना अवन्ती देश की धारानगरी के जिनमन्दिर में राजा भोज के शासनकाल में हुई थी। छन्दों की विविधता और विचित्रता की दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व है। इसमें लगभग 85 छन्दों का प्रयोग किया गया है। नयनन्दि मुनि की दूसरी रचना 'सयलविहिविहाणकव्व' सम्प्रति अप्रकाशित है। नयनन्दि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है।

कई भाषाओं के ज्ञाता कवि कनकामर का जन्म ब्राह्मण वंश में हुआ था। जैनधर्म से प्रभावित होकर आपने जैनधर्म अंगीकार किया और फिर बाद में दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण की। मुनि दीक्षा के उपरान्त ही आप 'मुनि कनकामर' के नाम से लोक विख्यात हुए। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को आपका समय माना जाता है। आपके गुरु का नाम पंडित मंगलदेव था।

‘करकण्डचरिउ’ आपकी एकमात्र रचना है जिसका अपभ्रंश काव्य-परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ‘करकण्डु’ इस चरित्रप्रधान काव्य का नायक है। सम्पूर्ण रचना में विस्तार से उसका चरित्रांकन किया गया है - “हे पुत्र ! यह उच्च पुरुष की कहानी जो गुणों की परम्परा वाली है, तेरे लिए कही गयी है, इसको तू हृदय में समझ” -

**एह उच्चकहाणी कहिय तुज्झु, गुणसारणि पुत्तय हियई बुज्झु। 2.18**

जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में भी करकण्डु को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है और दोनों ही साहित्यों में उसे ‘प्रत्येक बुद्ध’ माना गया है।

दस सन्धियों के इस काव्य में वीर, शृंगार और शान्त रस की अद्भुत त्रिवेणी हमें देखने को मिलती है। इसमें श्रुतपंचमी फल और पंचकल्याणक विधि का सविस्तर वर्णन किया गया है। धर्म और संस्कृति के तत्कालीन स्वरूप-चित्रण के साथ ही इसमें मन्दिरों की स्थापत्य कला और शिल्पांकन का चित्रण कर इसे कवि ने अतिरिक्त वैशिष्ट्य प्रदान किया है।

महाकवि रयधू को अपभ्रंश साहित्य में सर्वाधिक साहित्य-सृजन का श्रेय प्राप्त है। इनके पिता का नाम साहू हरिसिंह तथा माता का नाम विजयश्री था। साहित्य-सृजन की प्रेरणा और प्रतिभा इन्हें अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली थी। मूर्तिनिर्माण में भी इनकी विशेष अभिरुचि थी। अपनी रचनाओं में गोपाचलनगर-ग्वालियर का जैसा विश्वसनीय वर्णन इन्होंने किया है उससे लगता है कि इनका जन्म संभवतः ग्वालियर या उसके आसपास हुआ होगा। विक्रम संवत् 1439 से 1530 तक इनका समय माना जाता है।

महाकवि रयधू ने कुल कितने ग्रंथों का प्रणयन किया था, यह अभी तक प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। सम्प्रति उनके निम्नलिखित 28 ग्रंथ बताये जाते हैं - 1. बलहृदचरिउ, 2. मेहेसरचरिउ, 3. कोमुइकहपवंधु, 4. जसहरचरिउ, 5. पुण्णासवकहा, 6. अप्पसंबोहकव्व, 7. सावयचरिउ, 8. सुकोसलचरिउ, 9. पासणाहचरिउ, 10. सम्मइजिणचरिउ, 11. सिद्धचक्कमाहप्प, 12. वित्तसार, 13. सिद्धन्तत्थसार, 14. धण्णकुमारचरिउ, 15. अरिट्ठणेमिचरिउ, 16. जमिंधरचरिउ, 17. सोलहकारणजयमाल, 18. दहलक्खणजयमाल, 19. सम्मतगुणणिहाणकव्व, 20. संतिणाहचरिउ, 21. बारहभावना, 22. उवएसमाल, 23. महापुराण, 24. पज्जुण्णचरिउ, 25. करकंडचरिउ, 26. सुदंसणचरिउ, 27. रत्तत्रयी और 28. भविसयत्तकहा।

‘धण्णकुमारचरिउ’ में एक श्रेष्ठिपुत्र धन्यकुमार का जीवनचरित वर्णित है। यह एक पौराणिक चरितकाव्य है। अनगिन आपदाओं के बाद भी वह अपना धैर्य और साहस बनाये रखता है। अन्ततः अपने साले शालिभद्र के वैराग्य से प्रभावित होकर वह भी वैरागी बन जाता है। अपनी दुःख-दग्धा माता से वह कहता है - “तू मन में संसार को अनित्य जान। व्यक्ति मोह से जकड़ा हुआ मेरा-मेरा करता है, आयु के समाप्त होने पर कोई भी किसी को पकड़ नहीं सकता। अतः हे माता ! अब और विलम्ब मत करो। तुम जिनधर्म को ग्रहण करो ...” (3-21)।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि अपभ्रंश के पाणिनी हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई भाषाओं के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। पाणिनी व्याकरण की व्याख्या और टीका तक ही इन्होंने अपने को सीमित नहीं रखा बल्कि अपने समय तक की भाषाओं के व्याकरण बनाये। इस दृष्टि से इनके 'शब्दानुशासन' को आज भी विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। उन्होंने इस ग्रंथ को अपने आश्रयदाता, गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह को समर्पित किया था। इसलिए इसे 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' के नाम से भी जाना जाता है।

आचार्य सूरि का जन्म ई. सन् 1088 में गुजरात के धक्कलपुर, धन्धूका नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम चाचिंग तथा माता का नाम पाहिणी था। बचपन में इन्हें चंगदेव के नाम से पुकारा जाता था। सन् 1109 ई. में अन्हिलवाड जैन मठ की गुरु गद्दी पर आसीन होने के पश्चात् ये 'आचार्य सूरि' पद से विभूषित हुए और आचार्य हेमचन्द्र सूरि कहलाने लगे। इनका अधिकांश साहित्य-सृजन इसी मठ में हुआ था।

आचार्य सूरि को राज्याश्रय देनेवालों में गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (संवत् 1150-1199) और उनके भतीजे कुमारपाल (सं. 1199-1230) प्रमुख थे। आचार्य सूरि की प्रेरणा और प्रभाव से ही कुमारपाल ने अन्नतः जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। आचार्य की रचनाओं में 'अभिधान-चिन्तामणि', 'योगशास्त्र', 'छन्दोऽनुशासन', 'देशी नाममाला', 'द्वयाश्रय काव्य', 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष' और 'शब्दानुशासन' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्य सूरि बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। अपभ्रंश भाषा और साहित्य को स्थायित्व प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य इन्होंने किया। ये अपने समय के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और प्रशंसित जैन आचार्य थे। अपने शब्दानुशासन और छन्दोऽनुशासन में इन्होंने अपभ्रंश के अनेक दोहे उद्धृत किये हैं जो संयोग, वियोग, वीर, उत्साह, हास्य, नीति, अन्योक्ति आदि से सम्बद्ध हैं। इन दोहों का साहित्यिक सौन्दर्य सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य में सबसे अलग है। उदाहरण के लिए 'शब्दानुशासन' में उद्धृत कुछ दोहे द्रष्टव्य हैं -

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु ।

लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥

अर्थात् भला हुआ, हे बहिन ! जो हमारा कांत मारा गया। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।

हेमचन्द्र के दोहे मणियों की मंजूषा के समान हैं।

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि ।

जं अच्छइ तं माणिअ इं होसइ करतु म अच्छि ॥

- दिन झटपट व्यतीत हो जाते हैं, इच्छाएँ पीछे रह जाती हैं, जो होना है वह होगा ही ऐसा मानकर सोचता हुआ ही मत बैठ।

सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाण-वणेहिं ।

देस रवणणा होन्ति वढ ! निवसन्तेहिं सु-अणेहिं ॥

— हे मूर्ख ! न नदियों से, न झीलों से, न तालाबों से, न ही उद्यानों और वनों से देश सुन्दर होते हैं। वे तो सज्जनों द्वारा बसे हुए होने के कारण ही सुन्दर होते हैं।

अपनी तलस्पर्शी प्रतिभा और अपभ्रंश के संचयन-संरक्षण के लिए आचार्य सूरि अपभ्रंश साहित्य में सदा सम्मान के साथ स्मरण किये जाते रहेंगे।

इस धारा के अन्य प्रसिद्ध कवियों में श्रीचन्द्र, हरिभद्र, देवसेनगणि, लक्खण, लक्खमदेव, सोमप्रभ सूरि, शार्ङ्गधर, जयमित्रहल और हरिदेव आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस तरह जैन अपभ्रंश साहित्य सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धर्मप्रधान काव्य होते हुए भी इनमें चरित्रों को अतिमानवीय रूप नहीं दिया गया है। जगत् और जीवन के प्रति इन कवियों का दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ और सन्तुलित रहा है। परलोक के सम्मुख लोक को तिरस्करणीय या उपेक्षणीय इन्होंने कभी नहीं समझा। अच्छे कर्म करनेवालों को हमेशा अच्छा फल मिलता है, यही इनका सबसे बड़ा सन्देश है। जैनधर्म में सत्य, अहिंसा, तप एवं संयम को मानवीय शक्तियों के समुचित विकास के लिए अनिवार्य बताया गया है। अतः जैन अपभ्रंश साहित्य में भी सत्य, अहिंसा, सदाचरण और आत्मसाधना आदि पर विशेष बल दिया गया है।

शिल्प की दृष्टि से इन प्रबन्ध काव्यों में खण्डकाव्य और महाकाव्य दोनों मिलते हैं। कडवकबद्ध शैली का प्रयोग लगभग सभी रचनाओं में किया गया है। अलंकार परम्परा के पालन के साथ ही इन्होंने तत्कालीन जीवन से नये उपमान भी लिये हैं। तत्कालीन इतिहास के अध्ययन और अनुसंधान की दृष्टि से भी जैन अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

**बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ** — बौद्ध धर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मंत्रयान, कालचक्रयान, सहजयान तथा तंत्रयान आदि के रूप में सामने आयी। आचार्यों ने इनके सिद्धान्त-विवेचन के लिए अपभ्रंश भाषा को ही माध्यम बनाया। विद्वानों ने इन ग्रन्थों का हार्दिक अभिनन्दन कर आलोचना और अनुसंधान का पथ प्रशस्त किया। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित कराया। डॉ. चटर्जी, डॉ. शहीदुल्ला, डॉ. बागची और सुकुमार सेन प्रभृति विद्वानों ने प्रणयन-प्रकाशन की इस परम्परा को आगे बढ़ाया।

सिद्धों की इन रचनाओं में दो प्रकार की भावधारा मिलती है — पहली सिद्धान्त-विवेचन की और दूसरी उपदेश तथा खण्डन-मण्डन की। वज्रयान की पहली विशेषता शून्यवाद और दूसरी सर्ववाद की भावना है। बाद में इनमें और भी कई आचार्यों का समावेश हुआ, जिनमें पंचमकार-मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा और मैथुन प्रधान हैं।

चौरासी सिद्धों की रचनाओं में प्रायः मिलती-जुलती बातें कही गयी हैं। अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तः में रहनेवाले सहजानन्द की उपलब्धि इनका परम लक्ष्य है। अन्य मार्गों को टेढ़ा बताकर सहज मार्ग को सीधा कहा गया है और गुरु की आवश्यकता को अनिवार्य बताया गया है। इन सिद्धों की रचनाओं में छन्दों की विविधता नहीं के बराबर है। 'चर्यागीत' में गेय

पद हैं और 'दोहा कोश' का प्रधान छन्द दोहा है। कुछ सोरठे तथा अन्य छन्द भी हैं। सिद्धों की भाषा के दो रूप हैं - पूर्वी अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश। इनका समय सन् 800 से 1000 तक है। इन्हीं चौरासी सिद्धों में सबसे वरिष्ठ सरहपा या सरहपाद को कतिपय विद्वान् हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं।

तंत्रशास्त्र से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश रचना 'डाकार्णव तंत्र' है। इसमें वज्रयान के सिद्धान्तों का विवेचन है। गुरु को इसमें अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वी से प्रभावित अपभ्रंश है। इसमें चौपाई आदि प्रमुख छन्द हैं। इनका रचना काल ग्याहरवीं शताब्दी के आसपास है।

शैवों की अपभ्रंश रचनाएँ - कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की भी कतिपय रचनाएँ अंशतः अपभ्रंश में उपलब्ध होती हैं। अभिनव गुप्त का 'तंत्रसार' इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति को परम शिव मानकर इसमें शैव मत का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। यह ग्रंथ संस्कृत में लिखा गया है पर इसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राकृत, अपभ्रंश में सम्पूर्ण अध्याय का सार दिया गया है। इसका रचनाकाल 1014 ई. के आसपास है।

भट्ट वामदेव महेश्वराचार्य की रचना 'जन्म-मरण विचार' में परम शिव की शक्ति और उसके प्रसार का विवेचन है। इसमें एक दोहा अपभ्रंश में है। इसका रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ज्ञात होता है। गोरखनाथ के 'अमरोधशासन' में भी अपभ्रंश का एक पद्य मिलता है। कश्मीरी भाषा का प्राचीनतम उदाहरण लल्ला के 'लल्ला वाक्पानि' में देखने को मिलता है। शिति कण्ठाचार्य की रचना 'महानयप्रकाश' में अपभ्रंश के चौरानवे पद्य हैं। इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

शैव सम्प्रदाय की इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है, पर भाषा और भावधारा की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। मध्ययुगीन साधकों की भावधारा की पृष्ठभूमि इनकी सहायता से स्पष्टतर होती है।

ऐहिकतापरक अपभ्रंश साहित्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे पद्य आते हैं जो अलंकार, छन्द और व्याकरण की पुस्तकों में उद्धृत हैं और दूसरे वर्ग में प्रबन्धात्मक कृतियाँ आती हैं।

प्रथम वर्ग में महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक के अपभ्रंश पद्य आते हैं जो प्रकृति वर्णन आदि की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और सजीव हैं। चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' के दो दोहे, आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त एक दोहा, भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' के अठारह अपभ्रंश पद्य, हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण' में उद्धृत नीति, शृंगार, प्रेम तथा नायक-नायिकाओं के रूप-वर्णन आदि अनेक विषयों के छन्द, प्राकृत पेंगल के कुछ पद्य तथा 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में प्राप्त छन्द भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये मुक्तक छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं और शृंगार, प्रेम, वैराग्य, नीति एवं सूक्ति आदि की विविधता एवं आलांकारिक

छटा से पूर्ण हैं। यही मुक्तक धारा रीतिकाल तक चली आती है और आध्यात्मिक स्वर के मन्द हो जाने के कारण केवल शृंगारपूर्ण रह जाती है।

प्रबन्धात्मक कृतियों के दूसरे वर्ग में उपलब्ध ग्रंथों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम है। 'सन्देशरासक' 223 पद्यों में समाप्त एक सन्देशकाव्य है। इसमें विजयपुर की एक वियोगिनी नायिका एक पथिक द्वारा अपने प्रियतम तक अपना सन्देश भेजती है। इसमें ऋतु-वर्णन और नायिका के भावों का अत्यन्त आकर्षक चित्रण देखने को मिलता है। संवत् 1465 के पूर्व रचित अब्दुल रहमान की इस रचना की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरितकाव्य है जिसमें कीर्तिसिंह के वंश, विजय, वीरता और अभिषेक आदि का चित्रण है। इसमें काव्य वैभव का अभाव है और भाषा मैथिली से प्रभावित है। विद्यापति का समय चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी है। इनकी दूसरी रचना 'कीर्ति पताका' में भी अपभ्रंश के कतिपय पद्य हैं।

**हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव** — हिन्दी पर अपभ्रंश के प्रभाव को रेखांकित करनेवालों में पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थवाल, डॉ. हीरालाल जैन, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ. हरिवंश कोछड़, लालचन्द गाँधी, हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, चन्द्रमोहन घोष, हरप्रसाद शास्त्री, जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, बाबूराम सबसेना, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, सुकुमार सेन, रामसिंह तोमर, पी.डी. गुणे, डॉ. शहीदुल्ला, सी.डी. दलाल, जी.वी. तगारे, डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, कस्तूरचंद कासलीवाल एवं डॉ. कमलचन्द सोगाणी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग-2 में लिखते हुए गुलेरीजी ने कहा कि अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी ही कहना चाहिए — "विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी।" इसी तरह स्वयम्भू तथा पुष्पदन्त की रचनाओं को अपने ग्रंथ 'हिन्दी काव्यधारा' में संकलित करते हुए महापंडित राहुलजी ने कहा कि यह अपभ्रंश पुरानी हिन्दी ही है और स्वयम्भू इस हिन्दी का सर्वोत्तम कवि।

शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित होने के कारण हिन्दी साहित्य का अपभ्रंश से प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक है। विकासोन्मुख अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंग-कथा साहित्य, काव्य, छन्द और काव्यरूप सभी प्रभावित और पल्लवित हुए तो इसमें किसी को कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

हिन्दी के आदि महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। चरित काव्य होने के साथ वह रासक काव्य भी है, अतः उस पर अपभ्रंश के चरित काव्यों एवं रासक काव्यों का प्रभाव पड़ा है। निजन्धरी कथाओं का प्रयोग, कथानक रूढ़ियों, संयोग-वियोग के मार्मिक चित्र, ऋतु वर्णन एवं उनका उद्दीपनकारी प्रभाव ये सभी बातें अपभ्रंश काव्यों की तरह हमें 'पृथ्वीराज रासो' में भी मिलती हैं। 'सन्देशरासक' और 'पृथ्वीराज रासो' दोनों का प्रारम्भ एक जैसा है और दोनों की प्रारम्भिक आर्याएँ मिलती-जुलती हैं। अपभ्रंश काव्यों की

प्रेम सम्बन्धी लगभग सभी काव्यरूढ़ियों का योजनापूर्वक समावेश हमें रासों में देखने को मिलता है। ऋतुवर्णन और विरहानुभूति का चित्रण भी 'संदेशरासक' या 'ढोला-मारू रा दोहा' से हू-ब-हू मिलता है।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों पर अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों का प्रभाव - जैन अपभ्रंश साहित्य में रास नामक अनेक रचनाएँ लिखी गयीं, जैसे - 'उपदेश रसायन रास' (जिनदत्त सूरि, संवत् 1295); 'पंचकल्याणक रास' (विनयचन्द), पंचपंडवचरित रास, भरतेश्वर बाहुबलि रासउ और बुद्धिरास (शालिभद्र सूरि), रेवन्तगिरि रास (विजयसेन सूरि), गय सुकुमार रास (देवेन्द्र सूरि), जंबूसामि रासु (धर्मसूरि), योगी रासु (जोइन्दु), समाधि रास (मुनि चरितसेन), सन्देश रासक (अब्दुल रहमान) आदि। अपभ्रंश के ये प्रबन्ध काव्य हिन्दी काव्यों के मेरुदण्ड हैं हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों को अपभ्रंश के इन्हीं चरितकाव्यों के आधार पर लिखा है। अतः अपभ्रंश के इन काव्यों और प्रेमाख्यानक काव्यों में अद्भुत समानता है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश के 'भविसयत्तकहा', 'जसहरचरिउ', 'करकंडचरिउ' तथा हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों यथा पद्मावत, मधुमालती, मृगावती आदि में अनेक समानताएँ देखी जा सकती हैं।

सिद्धों और नाथपंथियों के अपभ्रंश भाषा में लिखित काव्य का हिन्दी सन्त काव्य पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी के सन्त कवियों ने लगभग उन्हीं रूढ़ियों, मान्यताओं एवं छन्दों को अपने काव्यों में प्रयुक्त किया है जो सिद्धों और नाथों के काव्यों में पायी जाती हैं। सद्गुरु की जो महिमा सन्त काव्य में मिलती है उसे हम सहजयानियों, वज्रयानियों और नाथपंथियों के अपभ्रंश साहित्य में भी पाते हैं। इसी तरह बौद्ध चर्यागीतों में जैसी पद रचना है वह कालान्तर में कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में भी देखने को मिलती है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "वे ही पद, वे ही राग-रागनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं, जो उक्त मत के माननेवाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थी।"

डिंगल काव्य-परम्परा के माध्यम से भी कबीर आदि सन्तों पर अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव पड़ा है। कबीर की साखियों में विरह की जो मार्मिक अभिव्यंजना देखने को मिलती है उसे अपभ्रंश साहित्य के अध्येता डिंगल काव्य, विशेषकर 'ढोला-मारू रा दोहा' से अत्यधिक प्रभावित मानते हैं। डा. नामवर सिंह कहते हैं - "कबीर के अनेक दोहे जो भावप्रवण और मार्मिक होते हैं, वे 'ढोला-मारू रा दोहा' में भी मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोक-प्रचलित दोहों को कबीर ने भक्तिपरक पानी देकर अपना लिया।"

तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर स्वयम्भूरचित 'पउमचरिउ' का प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है। महाकवि स्वयम्भू की तरह तुलसीदास ने भी प्रारम्भ में गुरु-वन्दना के बाद दुर्जनों और सज्जनों के सम्बन्ध में लिखकर रामकथा की तुलना सरोवर से की है। कथान्तर रूप में पूर्वकथा की योजना तथा श्रोता वक्ता के कई-कई जोड़े उपस्थित करना भी अपभ्रंश काव्यों जैसा ही है।

केशवदास की 'रामचन्द्रिका' अपभ्रंश काव्य 'जिनदत्तचरित' से प्रभावित है और सूरदास के गेय पदों में 'गाथा सप्तशती' की झलक मिलती है। उनका एकाध दोहा हेमचन्द्र के दोहों से हू-ब-हू मिलता है, जैसे -

बाँह बिछोडवि जाहि तुहुँ, हउं तेवई को दोसु ।  
हिअअड्डिअ जइ नीसरहि, जाणउं मुंज सरोसु ॥ - हेमचन्द्र  
बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि के मोहि ।  
हिरदय से जब जाहु तों, सबल बदींगो तोहि ॥ - सूर

मीरा की वाणी अपभ्रंश लोकगीत परम्परा के अत्यन्त निकट है। महाकवि विद्यापति के अलंकार ही नहीं, नायक-नायिका भेद तथा अन्य शैलीगत विशेषताएँ भी अपभ्रंश काव्य से प्रभावित हैं। उनकी 'कीर्तिलता' में अपभ्रंश चरितकाव्यों के अनेक लक्षण सहज ही देखे जा सकते हैं। इसतरह, महाकवि चन्द्रवरदाई से लेकर मीरा तक अधिकांश हिन्दी कवि अपभ्रंश काव्य से भलीभाँति परिचित और प्रभावित हैं।

मध्यकालीन हिन्दी कविता और रीतिकालीन शृंगारी काव्य भी अपभ्रंश के शृंगार काव्य से अत्यधिक प्रभावित हैं। बिहारी, देव, मतिराम आदि अनेक रीतिकालीन कवियों की शृंगारिक भावनाओं तथा तत्कालीन लक्षण ग्रंथों पर 'गाथा सप्तशती' का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। बिहारी सतसई में 'गाथा सप्तशती' से अनेक स्थलों पर भावसाम्य है। बिहारी का सुप्रसिद्ध निम्न दोहा गाथा सप्तशती के मूल भाव पर ही रचित है -

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल ।  
अली कली ही सौं बिंध्यौ आगे कौन हवाल ॥

संक्षेप में, हिन्दी काव्य का विषय ही नहीं उसकी रचनाशैली और छन्दों पर भी अपभ्रंश साहित्य का स्पष्ट प्रभाव है। अलंकारों के लिए भी हिन्दी अपभ्रंश की ऋणी है। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में अपभ्रंश से आया। अपभ्रंश की अनेक लोकोक्तियों, मुहावरों और कथानक रूढ़ियों को भी हिन्दी ने सहर्ष अपना लिया है। इसतरह, भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित है। यही कारण है कि अपभ्रंश की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है और अध्येता आज भी अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन की अनिवार्यता को शिद्दत के साथ महसूस करते हैं।

अपभ्रंश भाषा साहित्य और हिन्दी अनुसन्धान - अपभ्रंश के विशाल और विलुप्त साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रथम श्रेय जर्मनी के सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री रिचर्ड पिशेल और डॉ. हर्मन याकोबी को प्राप्त है। इन दोनों विद्वानों के अपभ्रंश साहित्य सम्बन्धी अध्ययन, अनुसंधान और प्रकाशन का परिणाम इतना उत्साहवर्द्धक और विस्मयकारी सिद्ध हुआ कि हिन्दी, गुजराती, मराठी और बंगला में अपभ्रंश भाषा और साहित्य सम्बन्धी अध्ययन, अनुसंधान, सम्पादन और प्रकाशन का पथ अनायास, रातोरारत, प्रशस्त हो उठा और अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ विनष्ट और विलुप्त होने से बचा ली गयीं। इनके अतिरिक्त जार्ज ग्रियर्सन, भाण्डारकर, मुनि जिनविजय,

प्रो. हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, प्रो. हरि दामोदर वेलणकर, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव और डॉ. रामसिंह तोमर आदि विद्वानों के अपभ्रंश सम्बन्धी अध्ययन और अनुसंधान ने पाठकों और अनुसंधित्सुओं के मन में अपभ्रंश के प्रति दुर्निवार आकर्षण उत्पन्न कर दिया।

भारतीय विश्वविद्यालयों में अबतक अपभ्रंश सम्बन्धी जो अध्ययन और अनुसंधान कार्य सम्पन्न हो चुके हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है -

1. हरिवंश कोछड़	अपभ्रंश साहित्य	दिल्ली, 1952
2. देवेन्द्रकुमार जैन	अपभ्रंश साहित्य	आगरा, 1957
3. परममिश्र	हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि और उनका भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	बिहार, 1960
4. देवेन्द्रकुमार जैन	हिन्दी भाषा और साहित्य पर जैन अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव	अलीगढ़, 1961
5. नामवर सिंह	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	इलाहाबाद, 1961
6. राजनारायण पाण्डेय	महाकवि पुष्पदंत : दशवीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि	आगरा, 1963
7. देवेन्द्रकुमार जैन	भविसयत कहा और अपभ्रंश कथाकाव्य	आगरा, 1964
8. वीरेन्द्र श्रीवास्तव	अपभ्रंश भाषा का अध्ययन ध्वन्यात्मक, रूपात्मक, अर्थात्मक	पटना, 1965
9. चंचलकुमारी	अपभ्रंश कथा साहित्य का अध्ययन	विश्वभारती, 1965
10. वासुदेव सिंह	अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद	वाराणसी, 1966
11. इन्द्रपाल सिंह	अपभ्रंश साहित्य में शृंगार (डी. लिट्.)	लखनऊ, 1967
12. एन. पी. वर्मा	अपभ्रंश के अस्फुट साहित्यिक मुक्तक पद	बिहार, 1967
13. परममित्र शास्त्री	सूत्र शैली और अपभ्रंश व्याकरण	वाराणसी, 1967
14. सिद्धनाथ पाण्डेय	अपभ्रंश के आख्यानक काव्यों (1700 ई. तक) का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव	इलाहाबाद, 1969

- |                           |  |                           |
|---------------------------|--|---------------------------|
| 15. संकटा प्र. उपाध्याय   | महाकवि स्वयम्भू अपभ्रंश भाषा के महान् कवि के जीवनवृत्त और उनके काव्य-गुणों का समीक्षात्मक अध्ययन | आगरा, 1969                |
| 16. प्रेमचन्द जैन         | अपभ्रंश कथाकाव्य का हिन्दी प्रेमकाव्यों के शिल्प पर प्रभाव                                       | वाराणसी, 1969             |
| 17. कैलाशनाथ टंडन         | पुष्पदन्त की भाषा  | लखनऊ, 1969                |
| 18. अम्बादत्त सन्त        | अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति   | आगरा, 1969                |
| 19. राजवंश सहाय 'हीरा'    | अपभ्रंश साहित्य : परम्परा और प्रवृत्तियाँ  | वाराणसी, 1970             |
| 20. नथुनीसिंह             | अपभ्रंश और हिन्दी काव्य रूपों का तुलनात्मक अध्ययन  | मगध, 1971                 |
| 21. प्रमोदकुमार सिंह      | अपभ्रंश के हेम मुक्तकों की अर्थयोनियाँ (डॉ. लिट्.)   | बिहार, 1971               |
| 22. मदन पाण्डेय           | अपभ्रंश के काव्यरूप और हिन्दी पर उनका प्रभाव   | वाराणसी, 1972             |
| 23. ओमप्रकाश शर्मा        | अपभ्रंश के चरित काव्य एक अनुशीलन   | विक्रम वि.वि., 1972       |
| 24. सूर्य ना. पाण्डेय     | चौदहवीं शताब्दी के अपभ्रंश हिन्दी साहित्य में वर्णित भारत  | इलाहाबाद, 1974            |
| 25. रामकिशोर              | अपभ्रंश मुक्तक काव्य का हिंदी मुक्तक काव्य पर प्रभाव   | इलाहाबाद, 1974            |
| 26. सुकुमारी चतुर्वेदी    | सिद्ध हेम शब्दानुशासनगत अपभ्रंश का समग्र अनुशीलन और उसका हिन्दी पर प्रभाव                        | विक्रम वि.वि., 1975       |
| 27. श्रीमती महिषी मलिक    | पुष्पदन्त का रामकाव्य और कृष्णकाव्य : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन                                    | इन्दौर, 1976              |
| 28. शिवसहाय पाठक          | अपभ्रंश : भाषा और व्याकरण  | महि. ग्रं. अ. भोपाल, 1976 |
| 29. कैलाशनाथ टंडन         | अपभ्रंश के कवि (डी. लिट्.)   | लखनऊ, 1983                |
| 30. सुरेन्द्र बहादुर सिंह | अपभ्रंश मुक्तक काव्य परम्परा का हिन्दी मुक्तक काव्य पर प्रभाव                                    | लखनऊ, 1984                |

31. प्रभाकर पाठक	हिन्दी वीर काव्य के विकास में अपभ्रंश साहित्य का योगदान	मिथिला, 1984
32. योगेन्द्रनाथ मिश्रा	संदेश रासक का भाषावैज्ञानिक अध्यन	वाराणसी, 1986
33. गोदावरी नागवानी	संदेशरासक में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्तिपरक अध्ययन	रविशंकर, 1990

अपभ्रंश साहित्य के इस पुनरवलोकन से उसकी ऐतिहासिक महत्ता और साहित्यिक श्रेष्ठता का हमें परिचय और प्रमाण मिलता है। अपनी जीवन्त परम्पराओं और समृद्धशाली सृजनात्मक साहित्य के कारण यह आज भी अध्येताओं और अनुसंधाताओं के आकर्षण का केंद्र बनी हुई है। महान् वैयाकरणों और महाकवियों ने लोक जीवन के इस भव्यतम दर्पण को अलंकृत करने में अपनी प्रतिभा का नैवेद्य सहर्ष अर्पित किया। यही कारण है कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन और अनुसंधान का सिलसिला आज भी जारी है। अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर की स्थापना का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

1. स्वशक्ति परोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येक बुद्ध बोधित विकल्पाः।

– अपनी शक्तिरूप निमित्त से होनेवाले ज्ञान के भेद से प्रत्येक बुद्ध होते हैं।

– सर्वार्थसिद्धि, आचार्यपूज्यपाद, 10.9.937; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, वि. सं. 2018।
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारी प्र. द्विवेदी, 1961 ई.।
3. हिन्दी साहित्य कोश, भाग - 1. ज्ञानमण्डल लि., सं. 2020।
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, नगेन्द्र, 1973 ई.।
5. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह, 1971 ई.।
6. अपभ्रंश : भाषा और व्याकरण, शिवसहाय पाठक, 1976 ई.।
7. अपभ्रंश काव्य सौरभ, डॉ. कमलचन्द सोगाणी, 1992।
8. आलोचना, वर्ष 2, अंक 4, जुलाई 1953।
9. शोध संदर्भ - 1, 2, 3, गिरिराज शरण अग्रवाल।

बेलवागंज

लहेरियासराय

दरभंगा-846001 (बिहार)

## पउमचरिउ के कुछ विशिष्ट उत्प्रेक्षा अलंकार

— डॉ. रामबरन पाठक

अपभ्रंश साहित्य में महाकाव्य का प्रथम रचयिता महाकवि स्वयंभू की विलक्षणता से कोई भी साहित्यविद् अपरिचित नहीं होगा। जीवन के समस्त क्षेत्रों में गहन अनुभव रखनेवाला वह व्यक्ति क्यों न साहित्य क्षेत्र में अपना अद्वितीय स्थान बना पाता! उसकी सभी अनमोल रचनाएँ साहित्य संसृति की कोष-मंजूषा हैं। अतः सभी परवर्ती कवि जाने-अनजाने उस कवि के ऋणी हैं।

पउमचरिउ की कलात्मक सौन्दर्य पर दृष्टि पड़ते ही कौन ऐसा अध्येता होगा जिसका हृदय बाग-बाग होकर मन-मयूर को नृत्य करने के लिए बाध्य नहीं करेगा। प्रमाण-स्वरूप इस काव्य में कतिपय सुलभ उत्प्रेक्षा अलंकारों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। कवि की तीव्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपी लेखनी ने प्रस्तुत महाकाव्य में मूर्त-अमूर्त, प्रस्तुत-अप्रस्तुत, रस, गुण, रीति, शब्द-शक्ति, छन्द, शेष अन्य अलंकार आदि को उत्प्रेक्षा अलंकार का वाहक बनाकर काव्य के शिल्प-विधान में एक नया मोड़ दे दिया है। स्वर और व्यंजन का समावेश करते हुए वर्ण, पद, शब्द, वाक्यादि का अवलम्ब लेकर कवि की लेखनी चलती रही है। आलोच्य काव्य में परम्परागत एवं नवीन शिल्प संसाधनों का उपयोग सुलभ है।

- लेखक से यह लेख प्राप्त होने के पश्चात् एक दुर्घटना में उनका आकस्मिक निधन हो गया।

इस कृति में कवि ने वर्ण, अलंकार, छन्द, रस, दिवा-रात्रि, संध्या-प्रभात, नगर, ऋतु, ज्योतिष, पराक्रम एवं शौर्य-युद्ध से संबंधित विभिन्न प्रकार के कारक तथा जीवनोपयोगी समग्र वस्तुओं के कारकों की महत्ता उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा दिखाते हुए काव्य-कलेवर एवं सुन्दरता में अभिवृद्धि कर दी है। वह किसी एक उपमान से संतुष्टि नहीं पाता है क्योंकि उसके ज्ञान की पिपासा अनन्त है। इसलिये वह उपमानों की लड़ी पर लड़ी पिरोता चलता है। कभी भी थकता हुआ प्रतीत नहीं होता है। प्रस्तुत काव्य में आलोच्य, अलंकार का वाचक णावड़ं, णाड़ं एवं णं है।

पउमचरिउकार ने ग्रीष्म और पावस ऋतु का मानवीकरण निम्न प्रकार से किया है -

धणु अप्फालिउ पाउसेण तडि टंकार-फार दरिसन्तें ।

चोएँवि जलहर-हत्थि-हड णीर-सरासणि मुक्क तुरन्तें ॥<sup>1</sup> 28.2

- पावस राजा ने बिजली का टंकार करते हुए धनुष चढ़ा लिया साथ ही मेघ-घटा को प्रेरित करते हुए अविलम्ब जलरूपी बाण छोड़ा।

ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम दिनों में आकाश में मेघ-जाल फैलने लगता है। ऐसा लगता है मानो पावसराज हाथ में इन्द्रधनुष लेकर मेघरूपी गज पर बैठकर ग्रीष्मरूपी नराधिप पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो रहे हों। फिर जल के बाणों से आहत होकर ग्रीष्मराज युद्ध में धराशायी हुआ जिसके पठन से सज्जनों की तरह मेंढक टर-टर (रोने) करने लगे और दुर्जन की भाँति मयूर नाचने लगे -

दादुर रडेवि लग्ग णं सज्जण। णं णच्चन्ति मोर खल दुज्जण ॥

णं पूरन्ति सरिउ अक्कन्दें । णं कइ किलकिलन्ति आणन्दें ॥

णं परहुय विमुक्क उग्घोसें । णं वरहिण लवन्ति परिओसें ॥

णं सरवर वहु-अंसु-जलोल्लिय। णं गिरिवर हरिसें गज्जोल्लिय ॥

णं उणहविअ दवगि विओएँ । णं णच्चिय महि विविह- विणोएँ ॥

णं अत्थमिउ दिवायरु दुक्खें । णं पइसरइ रयणि सइँ सुक्खें ॥

रत्त-पत्त तरु पवणाकम्पिय। केण वि वहिउ गिम्भु णं जम्पिय ॥ 28.3

- मेंढक मानो सज्जनों की तरह टर-टर (रोने) करने लगे। मानो मोर दुष्ट दुर्जन की भाँति नृत्य करने लगे। मानो आनंद से सरिता भर गई। मानो कवि आनन्द से किलकिलाने लगे। मानो कोयल उद्घोष से मुक्त हो गई। मानो मयूर परितोष से बोलने लगे। मानो तालाब विपुल अश्रुओं से जलमग्न हो गया। मानो वियोग से दावाग्नि शांत हुआ। मानो पर्वत प्रसन्नता से पुलकित हो गया। मानो पृथ्वी विविध विनोद से नृत्य कर उठी। मानो दिवाकर दुःख से अस्त हो गया। मानो रात्रि सुख से फैल गयी। वृक्ष के पत्ते रक्त-युक्त हो गये एवं हवा से काँप उठे। कह रहे थे कि मानो किसी ने ग्रीष्म का वध कर दिया है।

रावण और सीता के कटु वार्तालाप - पश्चात् सूर्य अस्त हो गया। रात्रि की भयंकरता समाप्ति की स्थिति में है। मंत्रों से पीड़ित दर्प को चूर-चूर एवं सम्मान को चोट पहुँचानेवाली निशाचरीरूपी रात्रि नष्ट हुई, मानो शूरवीर के चोट से गजघटा -

सूर-भएण णाईं रणु मेल्लेवि । पइसइ णयरु कवाडइं पेल्लेवि ।  
 दीवा पज्जलन्ति जे सयणेहिं । णं णिसि वलेवि णिहालइ णयणेहिं ॥  
 उट्ठउ रवि अरविन्दाणन्दउ । णं महि कामिणि-केरउ-अन्दउ ॥  
 णं सज्झाए तिलउ दरिसाविउ । णं सुकइहे जस-पुञ्जु पहाविउ ॥  
 णं मम्भीस देन्तु वल-पत्तिहे । पच्छलें णाईं पथाइउ रत्तिहें ॥  
 णं जग-भवणहों वोहिउ दीवउ । णाईं पुणु वि पुणु सो ज्जे पडीवउ ॥

घत्ता - तिहुअण-रक्खसहो दारेवि दिसि-वहु-मुह-कन्दरु ।  
 उवरे पईसरेवि णं सीय गवेसइ दिणयरु ॥ 41.17

- सूर्य के भय से मानो रात्रि रण को छोड़कर किवाड़ों को धक्का देती हुई नगर में प्रवेश करती है। शयन-स्थान पर दीप जलते हैं मानो रात्रि उसके मिस अपने नेत्रों को घुमाकर देखती है। कमलों को आनंदित करनेवाला सूर्य उदय हुआ मानो पृथ्वीरूपी कामिनी का दर्पण हो अथवा संध्या का तिलक हो अथवा कवि का यशपुञ्ज चमकता हो अथवा राम की पत्नी सीता को शक्ति देकर रात्रि के पीछे दौड़ता हो अथवा संसाररूपी महल का दीपक जला हो अथवा बार-बार वही लौटता हो।

उद्विग्न स्थिति में बैठे हुए राम से उनके सामन्त कल के होनेवाले युद्ध की बात करते हैं। तभी सूर्योदय हुआ। इस प्रभात काल में सूर्य की स्थिति की नवीन उद्भावनाएँ वस्तुत्रेक्षा अलंकार के द्वारा प्रस्तुत करके कवि ने काव्य की उत्कृष्टता एवं रोचकता में योग दिया है -

ताम्व विहाणु भाणु णहे उग्गउ ।  
 रयणिहे तणउ गब्भु णं णिग्गउ ।

घत्ता - आहिण्डेंवि जगु सयरायरु सिग्घ-गइ ।  
 सम्पाइउ णाईं स इं भु व णाहिवइ ॥ 63.12

- (इसी बीच) प्रातःकाल का सूर्य आकाश में उदित हुआ तो ऐसा लगा मानो निशाचरियों का गर्भ निकल पड़ा हो। मानो द्रुतगामी सूर्य ने संसार की परिक्रमा करते हुए अपने हाथों से अपना अधिकार पूर्ण किया हो।

संध्या एवं रात्रि का सुन्दर तथा असुन्दर रूप देना कवि की कूचीरूपी लेखनी तथा रस, छन्द, अलंकार आदि रोशनाई की गुणवत्ता पर निर्भर है। कुशल चित्तेरारूपी स्वयंभू ने वीभत्स अलंकार के माध्यम से उसकी भयंकरता प्रकट की है -

जाय संझ आरत्त पदीसिय । णं गय-घड सिन्दूर-विहूसिय ॥  
 सूर-मंस-रुहिरालि-चच्चिय । णिसियरि व्व आणन्दु पणच्चिय ॥  
 गलिय संझ पुणु रयणि पराइय । जगु गिलेइ णं सुत्तु महाइय ॥ 23.9

- सूर्य के अस्त होने पर लालिमा से युक्त संध्या ऐसी लगी मानो सिन्दूर से सुसज्जित गजघटा हो। अथवा वीर के रक्त में लिपटी हुई निशाचरी प्रसन्नता से नृत्य कर रही हो। संध्या की समाप्ति एवं रात्रि के आगमन पर ऐसा लगा मानो सोते हुए महाविश्व को निगल लिया हो।

प्रकृति वर्णन के प्रसंगान्तर्गत वटवृक्ष का नवीनीकरण करता हुआ कवि नवीन चेतना के रूप में विविध कल्पनाओं की संभावनाएँ सुन्दर एवं रोचक शैली में प्रकट करता है -

कडिठउ वर-पायवु थरहरन्तु । णं वड़रि रसायले पड़सरन्तु ॥  
 णं णन्दण-वणहो रसन्तु जीउ । णं धणिहे वाहा-दण्डु वीउ ॥  
 णं दहवयणहो अहिमाण-खम्भु । णं पुहइ-पसूयणो पवर-गम्भु ॥  
 घत्ता - सो सोहइ णग्गोह-तरु मारुय-सुय-भुयलट्ठिहिं लइयउ ।  
 णावइ गंगहे जउणहे वि मञ्जे पयागु परिट्ठउ तइयउ ॥ 51.3

- थरति हुए वटवृक्ष को हनुमान ने ऐसा खींचा मानो पाताल में कोई शत्रु ही जा रहा हो। मानो वह नंदन वन की मुखरजिह्व हो। अथवा मानो धरती का दूसरा बाहुदण्ड। अथवा मानो रावण का अभिमान-स्तम्भ। अथवा मानो प्रसूतवती धरती का विशाल गर्भ हो। हनुमान द्वारा पकड़े जाने पर वह वटवृक्ष ऐसा लगता था मानो गंगा और यमुना नदी के बीच में तीसरा प्रयाग हो।

इस महाकाव्य में वस्तूत्रेक्षा अलंकार का अनुपम एवं अनूठा उदाहरण दशानन के पौरुष में तब दिखाई पड़ता है जब कैलाश पर्वत को उठा लेता है -

कत्थइ गय णिग्गय उद्ध - सुण्ड । णं धरएँ पसारिय वाहु-दण्ड ।  
 कत्थइ सुअ - पन्तिउ उट्ठियाउ । णं तुट्टउ मरगय - कण्ठियाउ ।  
 कत्थइ भमरोलिउ धावडाउ । उड्डन्ति व कइलासहो जडाउ ।  
 कत्थइ वणयर णिग्गय गुहेहिं । णं वमइ महागिरि वहु-मुहेहिं ।  
 उच्छलिउ कहि मि जलु धवल-धारु । णं तुट्टेवि गउ गिरिवरहो हारु ।  
 कत्थइ उट्ठियइँ वलाय-सयइँ । णं तुट्टेवि गिरि-अट्ठियइँ गयइँ ।  
 कत्थइ उच्छलियइँ विददुमाइँ । णं रुहिर-फुलिङ्गइँ अहिणवाइँ । 13.5

- रावण द्वारा कैलाश पर्वत उठाते ही भग्न विषधरों की विष-ज्वालाएँ निकलने लगीं, चट्टानें चूर-चूर होने लगीं, खलबली मच गई। कहीं पर गज सूँड उठाए हुए निकल रहे थे मानो धरती ने अपना हाथ फैला दिया हो। कहीं उड़ते हुए तोतों की पंक्ति सदृश मरकत के कन्ठे टूटे हों। भ्रमरों की पंक्तियां ऐसी उड़ती थीं मानो कैलाश पर्वत की जटाएँ उड़ती हों। कहीं पर गुफाओं से बन्दर निकले मानो महागिरि बहुत मुखों से वमन करता हो। कहीं जल की धवल धाराएँ ऐसी उछलती मानो गिरिवर के हार टूटे हों। सैकड़ों बगुले उड़े मानो पर्वत की हड्डियां चरमराई हों। कहीं मूंगे उछल रहे थे मानो नवीन रुधिरकण हों।

शौर्य एवं पराक्रम का दिग्दर्शन कराने की अनूठी कला तो स्वयंभू में थी ही, दूसरे उसके द्वारा उद्धृत उत्प्रेक्षाओं में निहित है -

एक्कहिं णिविट्ठ हणुवन्त-राम । मण-मोहण णाइँ वसन्त-काम ॥  
 जम्बव-सुग्गीव सहन्ति ते वि । णं इन्द-पडिन्द वइट्ठ वे वि ॥  
 सोमिन्ति-विराहिय परममिन्ति । णमि-विणामि णाइँ थिर-थोर-चित्त ॥  
 अङ्गङ्गय सुहड सहन्ति वे वि । णं चन्द सूर-थिय अवयरेवि ॥  
 णल-णील-णरिन्द णिविट्ठ केम । एक्कासणे जम - वइसवण जेम ॥  
 गय-गवय-गवक्ख वि रण-समत्थ । णं वर-पञ्चाणण गिरिवरत्थ ॥ 45.13

- एक ओर राम और हनुमान बैठे थे मानो मनमोहन बसन्त और काम हो। जामवन्त और सुग्रीव दोनों भी सुशोभित थे मानो इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों ही बैठे हों। परममित्र लक्ष्मण और विराधित मानो स्थूल स्थिरचित्तवाले नमि और विनमि हों। योद्धा अंग और अंगद सुशोभित थे मानो चन्द्र और सूर्य अवतरित हों। नृप नल और नील बैठे थे मानो एक आसन पर यम और वैश्रवण बैठे हों। युद्ध में समर्थ, गय, गवय और गवाक्ष भी ऐसे लगते थे मानो गिरिवर में रहनेवाले सिंह हों।

हस्त और प्रहस्त की प्रबल शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए कवि नवीन से नवीन उपमानों की कल्पना करता हुआ नहीं थकता। कवि का विचार सदैव यही रहता है कि वह शक्तिशाली जीव या निर्जीव कौन है जिससे हस्त और प्रहस्त की समता की जाय -

पां पलएँ समुट्ठिय चन्द-सूर । पां राहु-केउ अच्चन्त-कूर ।  
पां पलए-हुआसण पवण-चण्ड । पां मत्त महग्गय गिल्ल-गण्ड ।  
पां सीह समुद्धसिय-सरीर । पां खय-जलणिहि गम्भीर धीर । 61.9

- शक्ति का सहारा देकर हस्त और प्रहस्त इस तरह खड़े हुए मानो प्रलय में चन्द्र और सूर्य उदीयमान हों। अथवा क्रूर राहु और केतु अथवा पवन से आहत प्रलय की आग अथवा मद से आर्द्र महागज अथवा प्रसन्नचित्त शरीरवाला सिंह अथवा गंभीर एवं विशाल प्रलयकालीन समुद्र हो।

लेखनी से लिपिबद्ध करते हुए शक्ति एवं पराक्रम का उदाहरण निरन्तर बनाये रखने की कवि की अभिलाषा निरन्तर बलवती होती दिखाई पड़ती है। हस्त और प्रहस्त के मरणोपरान्त सिर पर हाथ रखकर बैठे रावण की स्थिति का चित्रण अवलोकनीय है -

पां मत्त-महागउ गय - विसाणु । पां वासरे तेय-विहीणु भाणु ।  
पां णी-ससि-सूरउ गयण - मग्गु । पां इन्द-पडिन्द-विमुक्कु सग्गु ॥  
पां मुणिवरु इह-पर-लोय-चुक्कु । पां कुकइ-कव्वु लक्खण-विमुक्कु ॥ 61.14

- वह (रावण) ऐसा लगता था मानो दाँतहीन मतवाला गज हो, मानो दिन में तेजहीन सूर्य हो, मानो सूर्य और चन्द्ररहित आकाश हो अथवा मानो इन्द्र और प्रतीन्द्ररहित स्वर्ग हो। मानो मुनि इस लोक और परलोक से चूक गये हों, मानो कुकवि का काव्य लक्षणरहित हो।

रावण ने जब अपना धनुष उठाया तो उस धनुष से ऐसा टंकार हुआ मानो प्रलय महामेघ गरज उठा हो। धनुष का घोर टंकार अप्रत्यक्षरूप से रावण की शक्ति का परिचय देता है -

पां गज्जिउ पलय-महाघणेण । पां घोरिउ घोरु जमाणणेण ॥  
अप्पाणु धित्तु पां णहयलेण । पां विरसिउ विरसु रसायलेण ॥  
पां महियल्ले णिवडिउ वज्ज-घाउ । वल्ले रामहो कम्पु महन्तु जाउ ॥ 75.8

- (रावण के धनुष चढ़ाने पर) ऐसा लगा मानो प्रलय महामेघ गरजा हो, मानो यममुख ने घोर गर्जन किया हो, मानो आकाशतल स्वयं गिरा हो, मानो रसातल ने बिना रस के शब्द किया हो, मानो पृथ्वीतल पर वज्र गिरा हो जिससे राम की सेना प्रकम्पित हो गई।

साथ ही उसके विशिष्ट कर्मों से उसकी शक्ति का परिचय मिलता है -

तम-पुंज-देहेण । णं पलय-मेहेण ॥ 75.10

- श्याम शरीर रावण मानो प्रलयमेघ हो।

लक्ष्मण और अतुलनीय शक्ति एवं विशाल आकारवाले रावण का आरोप कभी विभिन्न प्रबल पराक्रमवाले जीव व निर्जीव उपमानों से करता हुआ (कवि) कहता है -

गय-गारुड-सन्दण कसण देह । उण्णइय णाईं णहें पलय-मेह ॥

णं सीह महीहर - मत्थयत्थ । णं विंझ-संझ उअयाचलत्थ ॥

णं अंजण-महिहर विण्णहूअ । णं णर-णिहेण थिय काल-दूय ॥ 75.13

- दोनों (लक्ष्मण और रावण) श्याम शरीरवाले ऐसे थे मानो आकाश में प्रलय मेघ हो अथवा मानो पहाड़ की चोटी पर सिंह, अथवा विंध्याचल और उदयाचल हों या अंजनागिरि के दो टुकड़े या मनुष्यरूपी कालदूत अथवा मानो पृथ्वी ने सूर्यरूपी अरुण-कमल तोड़ने के लिए अपने दोनों हाथ फैलाये हों।

कवि की नगर-वर्णन की पद्धति निराली है। उसकी वृत्ति एक तीर से अनेक शिकार करने जैसी है। उसके उपमान विविध एवं विभिन्न होते हैं। कथ्य आकर्षक एवं रोचक बनता जाता है।

दिट्ठु णयरु जं जक्ख-समारिउ । णाईं णहङ्गणु सूर-विहूसिउ ॥

पुणु वि पडीवउ णयरु णिहालिउ । णाईं महावणु कुसुमोमालिउ ॥

णाईं सुकइहे कव्वु पयइत्तिउ । णाईं णरिन्द-चित्तु वहु - चित्तउ ॥

णाईं सेण्णु रहवर हँ अमुक्कउ । णाईं विवाह-गेहु स-चउक्कउ ॥ 28.6

- यक्ष द्वारा सँवारा हुआ वह नगर दिखाई पड़ा मानो आकाशरूपी आँगन में सूर्य सुशोभित हो। (उसने) पुनः लौटकर नगर को देखा मानो कुसुमों से युक्त महावन हो। मानो कुकवि का पद से युक्त काव्य (अथवा) मानो अनेक चित्रोंवाला राजा का चित्त हो। मानो श्रेष्ठ रथों से अमुक्त सेना हो, मानो चौक से पूरित विवाहित घर हो।

वियड-प्पय-छोहेहिँ पुणु पयट्ठु । णं केसरि मयगल-मइय-वट्ठु ॥

कत्थइ कप्पद्दुम दिट्ठ तेण । णं पन्थिय थिय णयरासएण ॥

कत्थइ गोरसु सव्वहँ रसाहुँ । णं ञिग्गउ माणु हरेंवि ताहुँ ॥

णं थउ हक्कारइ 'एहि एहि । भो लक्खण लहु जियपउम लेहि' ॥

घत्ता - वारुब्भड - वयणें दीहिय-णयणें देउल - दाढा-भासुरेण ।

णं गिलिउ जणद्दणु असुर-विमद्दणु एन्तउ णयर-णिसायरेण ॥ 31.6

- (लक्ष्मण ने) विकट पद और क्षोभों से युक्त पुनः नगर में प्रवेश किया मानो सिंहस्वरूप मयगल महागज का नाश करनेवाला हो। कहीं पर कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा मानो पथिक नगर की आशा में स्थित हों। कहीं पर सभी रसों से युक्त गोरस था मानो वह मानहरण हेतु ही निकला

हो। मानो नगर की ध्वजा कह रही हो कि हे लक्ष्मण ! आओ और शीघ्र जितपद्मा को लो (ग्रहण करो)।

हनुमान ने नगर में प्रवेश किया। उस नगर की विद्यमान वस्तुओं का वर्णन स्वयंभू ने स्थूल एवं सूक्ष्म अथवा मूर्त एवं अमूर्त उपमेय तथा उपमान के माध्यम से इस प्रकार किया है -

कथइ कल्लूरियहुँ कणिक्कउ । णं सिज्झन्ति तियउ पिय-मुक्कउ ॥  
 अइ-वण्णुज्जलाउ णउ मिट्ठउ । णं वर-वेसउ वाहिर-मिट्ठउ ॥  
 कथइ पुणु तम्बोलिय-सन्थउ । णं मुणिवर-मईउ मज्झत्थउ ॥  
 अहवइ सुर-महिलउ बहुलत्थउ । जण मुहमुज्जालेवि समत्थउ ॥  
 कथइ पडियइँ पासा-जूअइँ । णट्टहरइँ पेक्खणइँ व हूअइँ ॥  
 कथइ वर-मालाहर - सन्थउ । णं वायरण-कहउ सुत्तत्थउ ॥  
 कथइ उम्मवन्ति णर-माणइँ । ण जम - दूआ आउ-पेमाणइँ ॥  
 कथइ कामिणीउ मय-मत्तउ । णं रिह-वहुलउ अधिय-कडत्तउ ॥

घत्ता - रामहो हरिहे कइद्दयहो हणुवन्तु कयंजलि-हत्थउ ॥

कालहों जमहों सणिच्छरहों णं मिलिउ कयन्तु चउत्थउ ॥ 45.12

- कहीं पर भोजन पकानेवाली स्त्रियों के 'कनकन' शब्द ऐसे लगते थे मानो प्रिय से छूटी हुई स्त्री कुनकुना रही हो। कहीं पर नवीन श्वेत मिठाई थी मानो वेश्या के समान बाहर से मीठी हो। कहीं पर पानवालों की गली ऐसी लगती थी मानो श्रेष्ठ मुनियों के बीच की मति हो। अथवा अनेक अर्थोंवाली देव महिला जिसमें लोगों के मुख को उज्वल करने की सामर्थ्य थी। कहीं जुए-पासे फेंके जा रहे थे तो कहीं कूटघूत और नृत्य। कहीं मालाकरों की गली थी जो व्याकरण और कथा की तरह सुसज्जित थी। कहीं मनुष्यों के मान ऐसे लगते थे मानो आयु निर्धारित (प्रमाणित) करनेवाले यमदूत हों। कहीं मदयुक्त कामिनियाँ ऐसी लगती थीं मानो रेखबहुल (शूरियां) क्षीणता हो। हाथ जोड़े हनुमान राम, लक्ष्मण और सुग्रीव के बीच में ऐसे लगते थे मानो काल, यम और शनि में चौथा कृतान्त हो।

पउमचरिउ में प्रयुक्त उपमान ज्ञान-वृद्धि में उपयोगी हैं जिससे शब्द-भंडार में अभिवृद्धि होती है। ऐसे नवीन उपमान से प्रयुक्त शब्दों का ज्ञान करानेवाले के प्रति नत होना स्वाभाविक है। स्वयंभू ने धर्म एवं नीति में दृढ़ विश्वासी विभीषण के मुख से उपमेय और उपमान को अमूर्त बनाकर उसे पुनः उक्ति-दोष से वंचित करा दिया है और कथ्य की रोचकता को बनाये रखा है।

अहिमुहु वलिउ दसाणण रायहो । णं गुण-णिवहु दोस-संझायहो ॥ 57.2

- (विभीषण) दशानन के सम्मुख ऐसे मुड़े मानो दोष-समूह के सामने गुण-समूह हो।

युद्ध-वर्णन में कवि की शिल्पकला निखरती चलती है। रणप्रांगण में पड़े हुए शवों की स्थिति का चित्र अवलोकनीय है -

कथ इ स-विसाणइँ कुम्भयलइँ । णं रणवहु-उक्खलइँ स-मुसलइँ ॥  
 कथ इ छत्तइँ हयइँ विसालइँ । णं जम्म-भोयणे दिण्णइँ थालइँ ॥  
 कथ इ सुहड - सिराइँ पलोदटइँ । णाइँ अ-णालइँ णव-कन्दोदटइँ ॥  
 कथ वि गिदधु कवन्धेँ परिट्ठउ । णं अहिणव-सिरु सुहडु समुट्ठउ ॥  
 घत्ता - कथ इ णर-रुण्णइँ कर-कम-तुण्णइँ समर-वसुन्धरि भीसणिय ।  
 वहु खण्ड-पयारेहिँ णं सूआरेहिँ रइय रसोइ जमहो तणिय ॥ 17.13

- कहीं पर सूँड के साथ कुम्भस्थल पड़े थे मानो युद्धरूपी स्त्री के ऊखल एवं मूसल हों। कहीं कटे विशाल छत्र पड़े थे मानो यमराज के भोजन के लिए थाल हों। कहीं योद्धाओं के सिर लोट-पोट हो रहे थे मानो नवीन कुन्द पुष्प हों। कहीं धड़ों पर बैठे गिद्ध ऐसे लगते मानो उनके नये सिर ही निकले हों। कहीं नर-मुण्ड और पड़े हुए हाथ-पैर के समूह से पृथ्वी ऐसी भयंकर लगती थी मानो यमराज हेतु रसोइयों ने विभिन्न प्रकार के व्यंजन बनाये हों।

कटे हुए सिर जो रक्त से लिपटे हुए पड़े हैं कवि उसके लिए इस प्रकार उत्प्रेक्षा के माध्यम से व्यक्त करता है -

भडु को वि पडिच्छिरु णिव्वट्टिय-सिरु सोणिय-धारुच्छलिय-तणु ।  
 लक्खिज्जइ दारुणु सिन्दूरारुणु फग्गुणे णाइँ सहसकिरणु ॥ 17.12

- रक्त से लिपटाहुआ धड़ और सिर ऐसा मालूम होता था मानो सिन्दूर की भाँति लाल फाल्गुन का दारुण तरुण सूर्य हो।

अपार सेनाएँ युद्ध-प्रांगण में प्रयाण करती हैं। राम की असंख्य सेना, राम और रावण की सेनाओं के भिड़ने पर उड़तीहुई धूल की उत्प्रेक्षा देखते ही बनती है -

राम-सेण्णु रण-रहसिउ कहि मि ण माइउ ।  
 जगु गिलेवि णं पर-वलु गिलहुँ पथाइउ ॥ 74.11

- राम की सेना की प्रसन्नता नहीं समा पा रही थी, वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो विश्व को निगलकर शत्रु-सेना को निगलने दौड़ी हो।

गय-पय-भर-भारियए धरए णाइँ णीसासु मेल्लिउ ।  
 अहव वि मुच्छावियहे अन्धयारु जीउ व्व मेल्लिउ ॥  
 उच्छलिउ मन्दु मयरन्दु णाइँ । रय-णिहेण व णहहो धरिन्ति जाइ ॥  
 घत्ता - पसरन्तुदन्तु महन्तु रउ लक्खिज्जइ कविलउ कव्वुरउ ।

महि - मडउ गिलन्तहो स-रहसहो णं केस-भारु रण-रक्खसहो ॥ 74.12

- अश्वों के खुरों से धूल ऐसी उड़ी मानो गजों के पैर के भार से पृथ्वी निःश्वास छोड़ती हो अथवा मूर्च्छित पृथ्वी आँच-सदृश अंधकार छोड़ती हो। अथवा धूल के बहाने पृथ्वी आकाश की ओर जाती हो। पीली और चितकबरी धूल फैलती और उठती हुई ऐसी लगती थी मानो पृथ्वी के शव को निगलते हुए रणरूपी राक्षस का केश-भार हो।

युद्ध क्षेत्र के इसी क्रम में उत्प्रेक्षा अलंकार का अद्भुत एवं भयंकर चित्रण द्रष्टव्य है -

केहि मि करि-कुम्भइँ परमट्ठइँ । णं सङ्गाम-सिरिहे थणवट्ठइँ ॥  
 केहि मिं लइयइँ णर-सिर-पवरइँ । णं जयलच्छि-वरङ्गण-चमरइँ ॥  
 केहि मि हियइँ वला रिउ-छत्तइँ । णं जयसिरि-लीला-सयवत्तइँ ॥  
 केण वि खग्ग-लट्ठि परिउत्तिडय । रण रक्खसहो जीह णं कट्ठिडय ॥  
 केण वि करि-कुम्भत्थलु फाडिउ । णं रण-भवण-वारु उग्घाडिउ ॥  
 कत्थइ रुहिर-पवाहिणि धावइ । जाउ महाहउ पाउसु णावइ ॥

घत्ता - सोणिय-जल-पहरणगिगएहिँ वसुहन्तराल-णहयल-गएहिँ ।

पज्जलइ वलइ धूमाइ रणु णं जुग-खय-काले काल-वयणु ॥ 74.13

- किसी (योद्धा) ने गजों के कुम्भस्थल नष्ट कर दिये मानो उन्होंने संग्रामरूपी लक्ष्मी ही नष्ट की हो। किसी ने विशाल नर-झुण्ड उतारे मानो विजयलक्ष्मी रूपी सुन्दरी के चँवर हों। किसी ने बलपूर्वक शत्रुओं के छत्र छीन लिये मानो विजयलक्ष्मी का लीला-कमल हो। किसी ने तलवाररूपी लाठी निकाल ली मानो युद्धरूपी राक्षस की जिह्वा ही निकाल ली हो। किसी ने गज का कुम्भस्थल फाड़ डाला मानो रणरूपी भवन का द्वार उखाड़ दिया हो। कहीं रक्त-धाराएं बह रही थीं मानो महापावस (ऋतु) हो। वसुन्धरा के विस्तार और नभ में व्याप्त शोणित जल तथा अस्त्रों की आग से युद्ध कभी जल उठता और कभी उठता-सा धुआँ ऐसा जान पड़ता था मानो युगान्त का काल मुख हो।

युद्ध-प्रांगण की धूल की इस व्यापकता से कवि को जब संतोष नहीं होता है और अपनी कला-शिल्प में कमी का अनुभव करता है तो पुनः लिखता है कि इसने (धूल ने) समस्त संसार को मैला कर दिया और सूर्य-मण्डल तक फैल गई। तब वह रवि किरणों से तप्त हो जाती है -

ताव रण-रउ भुवणु मइलन्तु ।

रवि-मण्डलु पइसरइ तहिँ मि सूर-कर-णियर-तत्तउ ।

पडिखलेवि दिसामुहेहिँ सुठिय-गत्तु णावइ णियत्तउ ॥

सुर-मुहाइँ अ-लहन्तउ थिउ हेट्ठामुहु ।

पलय-धूमकेउ व धूमन्त दिसामुहु ॥

लक्खिज्जइ पल्लट्ठन्तु रेणु । रण-वसहहो णँ रोमन्थ-फेणु ॥

सोमिन्तिहे रामहो रावणासु । णं सुरेहिँ विसज्जिउ कुसुम-वासु ॥

रणएविहेँ णं सुरवहु - जणेण । धूमोहु दिण्णु णह-भायणेण ॥

सर-णियर-णिरन्तर-जज्जरङ्ग । णं धूलिहोवि णहु पडहुँ लग्गु ॥

घत्ता - मुअउ व पहरण-सय-सल्लियउ दड्हु व कोवगिगएहिँ घल्लियउ ।

सहसत्ति समुज्जलु जाउ रणु खल-विरहिउ णं सज्जण-वयणु ॥ 74.14

- उस युद्ध की धूल ने त्रिभुवन को मैला कर दिया जो सूर्य-मण्डल तक पहुँचकर तप्त हो गयी। वहाँ से पलटकर दिशारूपी मुखों में फैलने लगी। देवताओं का मुख न देख पाने के कारण

उसका मुख नीचा था। प्रलय धूम और केतु सदृश सब दिशाओं में धूल भर गयी। लौटती हुई रेणु मानो रणरूपी बैल का ज्ञाग हो। मानो देवताओं ने लक्ष्मण, राम और रावण पर कुसुम-रज की वृष्टि की ही। मानो सुर-वधुओं ने आकाशरूपी पात्र में युद्धरूपी देवी हेतु धूमसमूह दिया हो। तीर-समूह से लगातार क्षीण होता हुआ नभ ही धूल के रूप में गिर रहा था। रण सहज ही प्रकाशित हो उठा। मानो खलविहीन सज्जन का मुख हो।

राम-रावण में तुमुल युद्ध प्रारंभ होता है। घोर युद्ध होने का परिचय कवि-लेखनी से स्पष्ट हो जाता है। इस तुमुल युद्ध के उपमान देखते ही बनते हैं। कवि-कल्पना की उड़ानें कहाँ तक पहुँचती हैं ? कल्पना भी इसकी कल्पना नहीं कर सकती है -

रएँ पणट्ठएँ जाउ रणु धोरु ।

राहव-रावण-वलहुँ करण-वन्ध-सर-पहर-णिउणहुँ ।

अन्धार-विवज्जियउ सुरउ णाईँ अणुरत्त-मिहुणहुँ ॥

रह रहाहँ णर णरहुँ तुरङ्ग तुरङ्गहुँ ।

भिडिय मत्त मायङ्ग मत्त-मायङ्गहुँ ॥

को वि सराऊरिय-करु धावइ । रण-वहु-अवरुण्डन्तउ णावइ ॥

कासु इ वाहु-दण्डु वाणगें । णिउ भुअङ्कु णं गरुड-विहङ्गें ॥ 74.15

- करणबन्ध और बाणों के प्रहार में निपुण राम और रावण की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ मानो प्रबल अनुरक्त प्रेमी युगल की अंधकाररहित सुरति क्रीड़ा हो। कोई अपने हाथों में बाण लेकर ऐसे दौड़ता था मानो वह रणलक्ष्मी का आलिङ्गन करना चाहता हो।

द्वन्द्व युद्ध के चित्रण में कवि के उपमान अत्याधिक रोचक बन पड़े हैं -

वेणिण वि जुञ्जन्ति सिलीमुहेहिँ । णं गिरि अवरोप्यरु सुर-मुहैहिँ ॥ 63.4

- दोनों तीरों से युद्ध करते ऐसे लगते थे मानो नदी-मुख से पर्वत आपस में प्रहार कर रहे हों।

युद्ध क्षेत्रान्तर्गत व्यूह-रचना का प्रसंग होना स्वाभाविक है। कवि स्वयंभू की व्यूह-रचना पूर्णतः भिन्न है। इस संदर्भ में भी इसकी उपमाएँ अमूर्त एवं व्याकरणिक हैं -

हय-गय-रह-पाइक्क-भयंकरु । णं जमकरणु सुट्ठु अइ-दुद्धरु ॥

सत्त पवर-पायाराहिदिठउ । णं अहिणव-समसरणु परिदिठउ ॥

विरइउ एम वूहु णिच्छिददउ । णं सु-कइन्द-कव्वु घण-सददउ ॥

घत्ता - णं हियवउ सीयहे केरउ अचलु अभेउ दसाणणहो ॥ 67.13

- (सुग्रीव ने मायावी रचना कर डाली)। अश्व, गज, रथ, पैदल सैनिकों से भयंकर लगती थी मानो अतीव दुर्धर भयंकर जमकरण हो। सात विशाल परकोटे थे मानो नया समवशरण हो। ऐसा व्यूह बना जिसमें सुराख न हो। (वह) मानो सघन शब्दोंसहित किसी सुकवि का काव्य हो। वह सभी के लिए भीषण, दुर्गम एवं दु-दर्शनीय था (वह) मानो सीता का हृदय हो (साथ ही) रावण द्वारा अडिग और अभेद्य भी।

हनुमान और कुम्भकरण में द्वन्द्व-युद्ध प्रारंभ हुआ। दोनों के युद्ध में प्रयुक्त उत्रेक्षाएँ अवलोकनीय हैं -

हणुवन्तु लइउ रयणीयरेंण । णं मेरु-महागिरि जिणवरेंण ॥

चरणोहिँ धरेवि उच्चाइयउ । णं गिरि-सिहरेंण चडावियउ ॥ 65.10

- हनुमत को निशाचर ने पकड़ लिया मानो जिनवर ने सुमेरु पर्वत को उठा लिया हो। वह पैर से दबकर ऐसा निकला मानो पर्वत शिखर पर चढ़ा हो।

लक्ष्मण और रावण के द्वन्द्व-युद्ध का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत पंक्तियों में द्रष्टव्य है -

णं हंसें तोडिउ आरणालु । चल-जीहु वियड-दाढा-करालु ॥

घत्ता - णं मेरु-सिङ्गु सहुँ णिवडियउ । चन्द-दिवायर-मण्डलेहिँ ॥ 75.17

x x x

ताइँ वि तोडियइँ स-कलयलाइँ । णं दहवयणहो दुण्णय - फलाइँ ॥

तो णवरि चयारि समुट्ठियाइँ । णं थल-कमलिणि-कमलइँ थियाइँ ॥

पुणु अण्णइँ अट्ठ समुग्गयाइँ । णं फणसहो फणसइँ णिग्गयाइँ ॥ 75.18

x x x

जिह सीसइँ तिह हय वाहु-दण्ड । णं गरुडेँ विसहर कय दु-खण्ड ॥

सय सहस लक्ख अ-परिप्पमाण । एक्केक्कएँ तहि मि अणेय वाण ॥

णग्गोहहोँ णं पारोह छिण्ण । णं सुर-करि-कर केण वि पइण्ण ॥

सव्वङ्गुलि सव्व-णहुज्जलङ्ग । णं पंच-फणावलि थिय भुअङ्ग ॥

को वि करयलु सहइ स-मण्डलग्गु । णं तरुवर-पल्लउ लयहो लग्गु ॥

को वि सहइ सिल्लिम्मुह-सङ्गमेण । णं लइउ भुअङ्ग भुअङ्गमेण ॥

घत्ता - महि-मण्डलु मण्डिउ कर-सिरेहिँ छुडु खुडिएहिँ स-कोमलेहिँ ॥

रण-देवय अच्चिय लक्खणेण णाइँ स-णालेहिँ उप्पलेहिँ ॥ 75.19

x x x

स-कुसुम-चन्दण-चच्चिककयङ्ग । णियणासु णाइँ दरिसिउ रहङ्गु ॥

णहे तेण भमाडिज्जन्तएण जगु जे सव्वु णं भामियउ ॥ 75.20

x x x

भंजन्तु असेसाउह - सयाइँ । णं तुहिणु दहन्तु सरोरुहाइँ ॥

परिभमिउ ति-वारउ तरल-तुङ्गु । णं मेरुहे पासेहिँ भाणु-विम्बु ॥ 75.21

- (लक्ष्मण ने खुरपे से रावण का सिर तोड़ दिया।) मानो हंस ने कमलनाल तोड़ा हो। इसका (रावण का) सिर मुकुट के साथ पट्ट से अलंकृत था, वह चमकते हुए कुण्डलों के साथ ऐसा लगता था मानो चन्द्र और सूर्य मण्डलों सहित मेरुपर्वत-शिखर के साथ गिरा हो।

x x x



अन्त में श्रीमाला ने किष्किन्ध कुमार के गले में हार डालकर वरण कर लिया और उसके समीप बैठ गई। उस स्वयंवर में हुई श्रीवृद्धि का वर्णन कवि नवीन उपमानों द्वारा करता हुआ उपस्थित नृप-समूह की क्षीणता का भी दिग्दर्शन कराता है जिससे वर-वधू की छवि और निखर उठती है -

किष्किन्धहो घल्लिय माल ताएँ । णं मेहेसरहों सुलोयणाएँ ॥  
 आसण्ण परिट्ठिय विमल-देह । णं कणयगिरिहें णव-चन्दलेह ॥  
 विच्छाय जाय सयल वि णरिन्द । ससि-जोणहएँ विणु णं महिहरिन्द ॥  
 णं कु-तवसि परम-गईहें चुक्क । णं पङ्कय-सर रवि-कन्ति-मुक्क ॥ 7.4

- उसके (कुमार किष्किन्ध के ) गले में माला डालती मानो सुलोचना ने मेघेश्वर के गले में माला डाल दी हो। विमल शरीर वह उसके पास बैठी ऐसी सुशोभित थी मानो कनकगिरि पर नवीन चन्द्र उदय हुआ हो। सभी नृप उसे देखकर ऐसे क्षीण हुए मानो ज्योत्स्नारहित पर्वत हो अथवा सुगति से च्युत कुतपस्वी अथवा रविकांति-रहित कमलों की शोभा।

कवि द्वारा 'नख-शिख' वर्णन में प्रयुक्त नवीन उद्भावनाएं देखने योग्य बन गयी हैं। रावण की दृष्टि बाला मंदोदरी पर पड़ती है -

दीसइ तेण वि सहसत्ति वाल । णं भसलें अहिणव-कुसुम-माल ॥  
 दीसन्ति चलण-णेउर रसन्त । णं महु-राव वन्दिण पढन्त ॥  
 दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु । णं कामएव-अत्थाण-मग्गु ॥  
 दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति । णं कसण-वाल-सप्पिणि ललन्ति ॥  
 दीसन्ति सिहिण उवसोह देन्त । णं उरयलु भिन्देवि हत्थि-दन्त ॥  
 दीसइ पप्फुल्लिय-वयण-कमलु । णीसासामोयासत्त-भसलु ॥  
 दीसइ सुणासु अणुहुअ - सुअन्धु । णं णयण-जलहो किउ सेउ-वन्धु ॥  
 दीसइ णिडालु सिर-चिहुर-छण्णु । ससि-विम्बु व णव-जलहर-णिमण्णु ॥ 10.3

- सहसा (रावण ने) उस बाला (मंदोदरी) को देखा मानो मधुकर ने नये कुसुम-माला को देखा हो। उसके बजते हुए नूपुर ऐसे लगते थे मानो बन्दीजन शब्दों का पाठ करते हों। मेखलासहित नितम्ब मानो काम का आस्थान मार्ग था। चढ़ती हुई रोमावलि मानो काली बाल नागिन हो। उभरा हुआ उरोज ऐसा दिखाई पड़ता था मानो उरुस्थल पर हाथी का दाँत हो। उसका खिला हुआ मुख-कमल ऐसा दिखाई पड़ता था मानो निःश्वास के लिए उस पर मधुकर आसक्त हो। सुगन्ध का अनुभव करनेवाली उसकी सुन्दर नाक मानो नेत्रजल हेतु सेतु-बन्ध ही हो। सिर के केशों से छिपा आछन्न ललाट ऐसा लगता था मानो नये बादल में चन्द्र-बिम्ब ही डूबा हो।

चन्द्र और सूर्य का सामंजस्य स्वयंभू द्वारा इस प्रकार होता है -

विणिण वि दुस्सील-सहावइँ सुरउ स इँ भुञ्जन्ताइँ ।  
 'मा दिणयरु कहि मि णिएसउ' णाइँ स-सङ्कइँ सुत्ताइँ ॥ 13.12

- (चन्द्र और निशा) दोनों दुष्ट स्वभाव के थे। चूंकि सूर्य न देख सके, इसलिये दोनों सुरति का आनन्द लेकर सो रहे थे।

सूर्य का उदय होना कवि की दृष्टि में रात्रि को खोजना है -

विमले विहाणए कियण पयाणए उययइरि-सिहरे रवि दीसइ ।

‘मइँ मेल्लेप्पिणु णिसियरु लेप्पिणु कइँ गय णिसि’ णाइँ गवेसइ ॥ 14.0.1

- विमल प्रातः होने पर उसने (रावण ने) प्रयाण किया। उदयगिरि की चोटी पर सूर्य दिखाई पड़ा मानो खोजते हुए कि मुझे छोड़कर तथा चन्द्र को लेकर रात्रि कहाँ गयी है ?

यही नहीं बसन्त के आगमन पर सब कितने मद से भर जाते हैं, कवि की कल्पना देखने योग्य है -

पेक्खेवि एन्तहोँ रिद्धि वसंतहोँ महु-इक्खु-सुरासव-मन्ती ।

णम्मय-वाली भुम्भल-भोली णं भमइ सलोणहोँ रत्ती ॥ 14.2

- रिद्धि से युक्त वसंत को आते देख मधुर ईख और सुरा से मत्त भोली-भाली नर्मदा नदी-रूपी बाला मानो कामदेव की रति की भाँति मचल उठी हो।

नर्मदा-रूपी बाला अपने प्रिय (समुद्र) के पास जा रही है। कवि अभिसारिकारूपी नदी के परिधान एवं उसके श्रृंगार-प्रसाधन का वर्णन बड़े मनोरम ढंग से करता है -

णम्मयाएँ मयरहरहोँ जन्तिएँ । णाइँ पसाहणु लइउ तुरन्तिएँ ॥

घवघवन्ति जे जल-पब्भारा । ते जि णाइँ णोउर - झङ्कारा ॥

पुलिणइँ जाइँ वे वि सच्छायइँ । ताइँ जे उद्धणाइँ णं जायइँ ॥

जं जलु खलइ वलइ उल्लोलइ । रसणा-दामु तं जि णं घोलइ ॥

जे आवत्त समुट्ठय चङ्गा । ते जि णाइँ तणु-तिवलि-तरङ्गा ॥

जे जल-हत्थि-कुम्भ सोहिल्ला । ते जि णाइँ थण अद्धुम्मिल्ला ॥

जो डिण्डीर-णियरु अन्दोलइ । णावइ सो जे हारु रंखोलइ ॥

जं जलयर-रण-रंगिउ पाणिउ । तं जि णाइँ तम्बोलु समाणिउ ॥

मत्त-हत्थि-मय-मइल्लिउ जं जलु । तं जि णाइँ किउ अक्खिहँ कज्जलु ॥

जाउ तरंगिणिउ अवर-ओहउ । ताउ जि भंगु राउ णं भउहउ ॥

जाउ भमर-पन्तिउ अल्लीणउ । केसावलिउ ताउ णं दिण्णउ ॥

घत्ता - मज्झेँ जन्तिएँ मुहु दरसन्तिएँ माहेसर-लंक-पईवहुँ ।

मोहुप्पाइउ णं जरु लाइउ तहुँ सहसकिरण-दहगीवहुँ ॥ 14.3

- (वह) नर्मदारूपी बाला समुद्र को जाती हुई अपनी साज-सज्जा धारण कर लेती है। कल-कल करती हुई जल-धाराएं मानो उसके नूपुर की ध्वनि हो और चमकीले किनारे उसकी ओढ़नी। उछलता एवं खलबल करता हुआ उसका जल मानो उसके करधनी की ध्वनि हो। उसमें उठते हुए आवर्त उसके शरीर की त्रिवली तरंग जैसी थी। जो उसमें जल गजों के कुम्भस्थल शोभायमान हो रहे थे वही मानो उसके अधखुले स्तन सुशोभित थे। जलचरों के युद्ध से रंगा हुआ जल मानो ताम्बूल था। मद से युक्त गज के मदजल से मटमैला जल ही मानो नेत्रों का जल था।

नीचे-ऊपर उठनेवाली तरंगें बाहुओं की चित्रराग थीं। भ्रमर माला ही केश-कलाप। इस तरह बीच में मुख दिखाकर जाती हुई उस रेखा को देखकर माहेश्वर और लंकाधिपति दोनों को मोह और प्वर उत्पन्न हो गया।

जल-क्रीड़ा-चित्रण में शृंगार रस द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रयोग ने रसासिक्त होकर हृदय को प्रफुल्लित बना दिया है। कोई (नारी) कोमल कमल से राजा पर प्रहार करती हुई क्रीड़ा करती थी तो कोई और किसी से।

कहें वि गुञ्जु जले अद्धुम्मिल्लउ । णं मयरहर-सिहरु-सोहिल्लउ ॥  
 कहें वि कसण रोमावलि दिट्ठी । काम-वेणि णं गर्लेवि पइट्ठी ॥  
 कहे वि थणोवरि ललइ अहोरणु । णाई अणंगहों केरउ तोरणु ॥ 14.7

- किसी का जल से आधा निकला हुआ आभूषण मानो कामदेव के मुकुट-सदृश था। किसी के काली रोमावलि ऐसी थी मानो कामवेणी ही गलकर निकली हो। किसी के स्तन पर दुपट्टा ऐसा लगता था मानो कामदेव का ध्वज हो।

रेहइ सुन्दरि सहुँ सुन्दरेण । वर-करिणि णाई सहुँ कुञ्जरेण ॥  
 णं सीहिणि सहुँ पञ्चाणणेण । जियपउम णाई सहुँ लक्खणेण ॥  
 अह खणों खणों वणिणज्जन्ति काई । णं पुणु वि पुणु वि ताई जें ताई ॥ 48.14

- (हनुमान और लंकासुन्दरी के विवाहोपरान्त) सुन्दर के साथ सुन्दरी ऐसी सुशोभित थी मानो सुन्दर गज के साथ हथिनी हो। मानो सिंह के साथ सिंहनी, मानो लक्ष्मण के साथ जितपद्मा। अथवा बार-बार क्या चर्चा की जाय उसके समान वही था।

रावण अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ। मंदोदरी को अभी-अभी अंगद ने मुक्त किया था। उस समय वह रावण को कैसी लगती है ? पउमचरिउकार के शब्दों में -

छुडु-छुडु आमेल्लिय अङ्गएण । णं कमलिणि मत्त-महागएण ॥  
 णं कुतवसि-वाणि जिणागमेण । णं णाइणि गरुड-विहंगमेण  
 णं दिणयर-सोह वराहवेण । णं पवर-महाडइ हुअवहेण ॥  
 णं ससहर-पडिम महग्गहेण । मम्भीसिय विज्जा-सङ्गहेण ॥ 72.14

- अंगद द्वारा शीघ्र ही मुक्त हुई वह (मंदोदरी) ऐसी दीख पड़ी मानो मद से झरते हुए गज ने कमलिनी को छोड़ा हो अथवा जिनागम ने किसी कु-तपस्वी की वाणी का विचार किया हो। मानो पक्षिराज गरुड नागिन पर टूट पड़ा हो अथवा दिनकर की शोभा मेघ ही टूट पड़ा हो अथवा महाग्रह ने चन्द्र-प्रतिमा को निगल लिया हो।

जहाँ कवि ने संयोग शृंगार रस के अन्तर्गत उत्प्रेक्षा अलंकार को चमत्कृत किया है वहीं पर विप्रलम्भ शृंगार रस के द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार की नवीनता में कमी नहीं है। हनुमान के पिता पवनञ्जय विवाहोपरान्त अपनी पत्नी अंजना का परित्याग कर देता है। वह बेचारी (पति के) विरह में दग्ध हो रही है -

डञ्जन्तउ उरु विरहाणलेण । णं वुञ्जावइ अंसुअ-जलेण ॥  
 परिवार-भित्ति-चित्ताइँ जाइँ । णीसास-धूम-मलियाइँ ताइँ ॥  
 ढिल्लइँ आहरणइँ परियलन्ति । णं णेह-खण्ड-खण्डइँ पडन्ति ॥ 18.9

- विरह-ज्वाला से दग्ध वह (अंजना) ऐसी लगती थी मानो उसके हृदय को अश्रुधारा शांत नहीं कर पा रही है। उसके ढीले परिधान ऐसे लगते मानो उसके स्नेह खण्ड-खण्ड होकर गिर रहे हों।

करुण रस के चित्रण में सिद्धहस्त कवि खर-दूषण के द्वारा रावण को पत्र भिजवाता है जो रावण के सम्मुख इस प्रकार पड़ा है -

पडिउ णाइँ बहु-दुखहँ भारु । णाइँ णिसायर-कुल-संधारु ॥  
 णाइँ भयंकरु कलहहो मूलु । णाइँ दसाणण-मत्था-सूलु ॥ 38.1

- मानो अतीव दुःख का भार पड़ा हो। मानो निशाचर कुल का संहार हो (अथवा) मानो भयंकर कलह का मूल हो (अथवा) मानो दशानन के मस्तक का दर्द हो।

यह सत्य है कि दुखी जीवन में सभी दृश्यमान वस्तुएँ ऐसी लगती हैं मानो वे दुःख दे रही हैं। महाकवि सूर के शब्दों में - "जोड़-जोड़ सुखद-दुखद अब तेइ-तेइ" के सदृश सीता-विहीन राम दुःखी हैं अतः राम को अब वन कष्टकारी है -

णीसीयउ वणु अवयज्जियउ । णं सररुहु लच्छि - विसज्जियउ ॥  
 णं मेह-विन्दु णिव्विज्जुलउ । णं मुणिवर-वयणु अ-वच्छलउ ॥  
 णं भोयणु लवण-जुत्ति-रहिउ । अरहन्त-विम्बु णं अ-वसहिउ ॥  
 णं दत्ति-विवज्जिउ किविण-धणु । तिह सीय-विहूणउ दिट्ठ वणु ॥ 39.1

- सीता-रहित वन राम को ऐसा लगा मानो शोभाहीन कमल हो (या) मेघ-समूह विद्युत्विहीन हो। (या) मानो वात्सल्यरहित मुनिवचन हो। (अथवा) नमकरहित भोजन हो। (अथवा) आसन से हीन जिन-प्रतिबिम्ब हो मानो दान से रहित कृपण हो।

संकट की स्थिति में करुण-क्रन्दन करती हुई अपने मामा को पाकर (अंजना) फूट-फूटकर रोने लगी -

जं लइउ आसि पुण्णेहिँ विणु । तं दिण्णु विहिहेँ णं सोय-रिणु ॥  
 घत्ता - सरहसु साइउ देन्तएँहिँ जं एक्कमेवक आवीलियउ ।  
 अंसु पणालें णीसरइ णं कलुणु महारसु पीलियउ ॥ 19.10

- (अंजना) जो पुण्यरहित हुई उसी से यह शोक-ऋण प्राप्त हुआ था। वे एक-दूसरे के आलिंगन में जकड़ उठे, मानो पीड़ित होकर महाकरुण रस अश्रुधारा के मिस बाहर निकला हो।

णीसरिउ वालु अइ-दुल्ललिउ । णं णहयल-सिरिहेँ गब्भुगलिउ ॥  
 मारुइ दवत्ति णिवडिउ इलहेँ । णं विज्जु-पुंजु उप्परि सिलहेँ ॥  
 उच्चाएँवि णिउ विज्जाहरेँहिँ । णं जम्मणेँ जिणवरु सुरवरेँहिँ ॥  
 अञ्जणहेँ समप्पिउ जाय दिहि । णं णट्ठु पडीवउ लद्धु णिहि ॥ 19.11

- विमान से जाती हुई (अंजना) के हाथ से छूटकर हनुमान ऐसा गिरा मानो आकाशरूपी लक्ष्मी का गर्भ हो। हनुमान धरती पर गिरे मानो शिला-तल पर विद्युत-समूह। विद्याधरों ने उसे ऐसे उठाया मानो जिन को देवगण ने जन्म के समय उठाया हो। किसी ने उस बच्चे को अञ्जना को सौंप दिया, वह इतनी प्रसन्न हुई मानो उसे खोई हुई वस्तु मिल गई हो।

राम और लक्ष्मण ने वन जाने के लिए घर छोड़ दिया, उनके न रहने पर उनके राजभवन की स्थिति का करुणामयी चित्र निम्न प्रकार से प्रस्तुत है -

सोह ण देइ ण चित्तहों भावइ । गहु णिच्चन्दाइच्चउ णावइ ॥  
 णं किय-उद्ध-हत्थु धाहावइ । वलहों कलत्त-हाणि णं दावइ ॥  
 भरह णरिन्दहों णं जाणावइ । 'हरि-वल जन्त णिवारहि णरवइ' ॥  
 पुणु पाआर-भुयउ पसरेप्पिणु । णाइँ णिवारइ आलिङ्गेप्पिणु ॥  
 घत्ता - चाव-सिलीमुह-हत्थ वे वि समुण्णय - माणा ।

तहों मन्दिरहों रुयन्तहों णाइँ विणिग्गय पाणा ॥ 23.5

- (राम के न होने से) न राजमहल सुशोभित है न चित्त अच्छा है, भवन हाथ उठाकर चिल्लाता है वह ऐसा लगता है मानो सूर्य और चन्द्ररहित आकाश हो। मानो राम की पत्नी का हरण दिखाता हो (अथवा) मानो भरत को यह बता रहा हो कि राम और लक्ष्मण को रोको, फिर भुजाओं को पसारकर एवं आलिंगन करके मानो रोक रहा था। हाथ में धनुष-बाण लिये हुए उन्नतमान वे दोनों क्रन्दन करते हुए राजभवन से ऐसे निकल गये थे जैसे प्राण ही निकल गया हो।

शम्बूककुमार और खरदूषण के यमपुर पहुँचने का समाचार चन्द्रनखा से पाकर दशानन अत्यन्त दुःखी हुआ -

णं मयलंछणु णिप्पहु जायउ । गिरि व दवगि-दड्ढु विच्छायउ ॥  
 णं मुणिवरु चारित्त-विभट्ठउ । भविउ व भव-संसारहौ तट्ठउ ॥  
 वाह भरन्त-णयणु मुह-कायरु । गहेंण गहिउ णं हूउ दिवायरु ॥ 41.2

- (चन्द्रनखा के दीन वचनों को सुनकर रावण मुख नीचा कर लेता है।) मानो चन्द्र कांतिहीन हो गया। दावानल में दग्ध पर्वत प्रभाहीन हुआ हो अथवा मुनि ही चरित्रभ्रष्ट हुआ हो। भवरूपी संसार से त्रसित जिसकी आँखें आह से भरी हैं, ऐसा कातर मुख हुआ मानो राहु ग्रह से ग्रस्त सूर्य हो।

लक्ष्मण के आहत होने पर राम की मार्मिक एवं शोकाकुल करुण स्थिति का चित्रण निम्न प्रकार है -

भाइ-विओएं कलुण-सरु रणें राहवु रोवइ जावेंहिँ ।  
 णं उसासु जणददणहों पडिचन्दु पराइउ तावेंहिँ ॥ 68.0.1

- अपने भाई (लक्ष्मण) के वियोग में (राम) रो ही रहे थे कि प्रतिचन्द्र पास में आया मानो वह लक्ष्मण के लिए उच्छ्वास हो।

(आहत-लक्ष्मण का समाचार पाकर) दशरथ-पुत्र भरत के रोने पर समस्त परिजन रोने लगे। इस स्थिति का अवलोकन कीजिए -

दुःखाउरु रोवइ सयलु लोउ । णं चप्पेवि भरिउ सोउ ॥

रोवइ भिच्चयणु समुदद-हत्थु । णं कमल-सण्डु हिम-पवण-घत्थु ॥

रोवइ अन्तेउरु सोय-पुण्णु । णं छिज्जमाणु संख-उलु वुण्णु ॥ 69.13

- सभी दुःखी लोग रोने लगे मानो कण-कण शोक से भर उठा हो। समुद्र हस्त और भृत्य-समूह ऐसे रोये मानो हिमपवन से आहत कमल-समूह हो। शोकयुक्त सभी अन्तःपुर रोने लगा मानो नाश होता हुआ दुःखी शंख-समूह हो।

शम्बूककुमार के वध होने पर खर-दूषण को क्रोधित करने के लिए अपने ही नखों से अपने आपको विदीर्ण करके चन्द्रनखा उसके पास (खर-दूषण के पास) पहुँची। उसका भयंकर स्वरूप उत्साहवर्धित था -

लम्बन्ति लम्ब-कडियल-समग्ग । णं चन्दण-लयहें भुअंग लग्ग ॥

वीया-मयलञ्छण-सण्णिहेहिं । अप्पाणु वियारिउ णिय-णहेहिं ॥

रुहिरोल्लिय थण-धिप्पन्त-रत्त । णं कणय-कलस कुंकुम विलित्त ॥

णं दावइ लक्खण-राम-कित्ति । णं खर-दूसण-रावण-भवित्ति ॥

णं णिसियर-लोयहें दुक्ख-खाणि । णं मन्दोयरिहें सुपुरिस-हाणि ॥

णं लंकहे पइसारन्ति सङ्ग । णिविसेण पत्त पायाललङ्ग ॥

णिय-मन्दिरे धाहावन्ति णारि । णं खरदूसणहो पइट्ट मारि ॥

घत्ता - कुवारु सुणेप्पिणु धण पेक्खेप्पिणु राएँ वलेवि पलोइयउ ॥

तिहुयणु संघारेंवि पलउ समारेंवि णाडँ कियन्तें जोइयउ ॥ 37.3

- लम्बे केश जो कटितल तक लटके थे ऐसा लगता था मानो चन्दनलता से सर्प लटके हों। द्वितीया के चन्द्रमा-सदृश उसने अपने आपको विदीर्ण कर लिया। रक्त की धारा से उसके स्तन लाल हो गये, मानो केसर से रंजित स्वर्णकलश हो, मानो वह राम-लक्ष्मण की कीर्ति दिखाती हो (अथवा) मानो खर-दूषण और रावण की भवितव्यता। मानो निशाचर लोक हेतु दुःख की खान, मानो मंदोदरी के पुरुष की हानि। (अथवा) मानो लंका में प्रवेश करनेवाली शंका हो जो क्षणभर में पाताल लंका में पहुँची। वह नारी अपने घर में धाड़ मारकर इसप्रकार रोने लगी मानो खर-दूषण के लिए 'मारी' ने प्रवेश किया है। विलाप करती हुई उस स्त्री को देखने हेतु मुड़कर राजा ने ऐसे देखा मानो त्रिभुवन को संहार और प्रलय हेतु कृतान्त ने देखा हो।

चन्द्रनखा के रौद्र रूप का प्रदर्शन कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से कराया है -

चन्दणहि अलज्जिय एम पगज्जिय 'मरु-मरु भूयहुँ देमि वलि' ॥

णिय-रूवें वडिढय रण-रसेँ अडिढय रावण-रामहुँ णाडँ कलि ॥ 37.0

- रण-रस से आप्लावित अपने आकार को बढ़ाती हुई राम-लक्ष्मण के लिए वह (चन्द्रनखा) साक्षात् कलह-सदृश मालूम पड़ती थी।

भय-भीषण कोवाणल-सणाह । णं धरएँ समुब्भिय पवर वाह ॥  
 णह सरि-रवि-कमलहों कारणत्थि । अहवइ णं अब्भुद्धारणत्थि ॥  
 णं घुसलइ अब्भ-चिरिडिडहिल्लु । तारा-वुव्वुव-सय-विडिडरिल्लु ॥  
 ससि-लोणिय-पिण्डउ लेवि धाइ । गह-डिम्भहों पीहउ देइ णाई ॥  
 अहवइ किं वहुणा वित्थरेण । णं णहयल - सिल गेणहइ सिर्रेण ॥  
 णं हरि-वल-मोत्तिय-कारणेण । महि-गयण-सिप्पि फोडइ खणेण ॥ 37.1

- कोपानल से दग्ध भय-भीषण ऐसी लगती थी मानो वसुन्धरा ने प्रवर बाँह उठा ली हो। अथवा मानो रवि और कमल के लिए आकाश-गंगा उत्पन्न हो अथवा बादलरूपी दही मथती हो (अथवा) तारारूपी सैकड़ों बुदबुद हों। (अथवा) चन्द्ररूपी नवनीत का पिण्ड लिये हुए ग्रहरूपी बच्चों हेतु पीढ़ा लगाने के लिए दौड़ी हो। अथवा बहुत विस्तार से क्या? मानो उसने वह आकाशरूपी शिला उठा ली हो। मानो क्षणभर में राम-बलराम मोतियों के लिए पृथ्वी और नभरूपी सीपी को तोड़ना चाहते हों।

घत्ता - एए णरवइ गय-सन्दणोहँ परिट्ठय ।

समुह दसासहो णं उवसग्ग समुट्ठय ॥ 60.5

- ये नरश्रेष्ठ (राजा) गजरथ पर प्रतिष्ठित हुए मानो रावण के सम्मुख संकट प्रतिष्ठित हो।

एए णरवइ सयल वि तुरय-महारह ।

णाई णिसिन्दहों कुद्धा कूर महागह ॥ 60.6

- ये राजा सभी महाअश्व रथोंवाले ऐसे लगते थे मानो क्रूर महाग्रह निशाचरों पर क्रुद्ध हो गये हों।

कुमार किष्किंध नरेश और निराश्रित नृपों की सेनाएं आपस में उत्साहपूर्वक भिड़ती हैं तो कवि अनगढ़ शब्दों के माध्यम से उत्प्रेक्षित करता है -

साहणइ मि अवरोप्परु भिडन्ति । णं सुकइ-कव्व-वयणइँ घडन्ति ॥

भञ्जन्ति खम्भ विहडन्ति मञ्च । दुक्कवि-कव्वालाव व कु-सञ्च ॥

हय गय सुण्णासण संचरन्ति । णं पंसुलि-लोयण परिभमन्ति ॥ 7.5

- सेनाएँ एक-दूसरे पर भिड़ीं मानो सुन्दर कवियों के वचन आपस में मिल गये हों। भागते हुए मंच के खम्भे टूट पड़े मानो दुष्ट कवियों के अगठित काव्य-वचन हों। आसन से शून्य अश्व और गज ऐसे घूम रहे थे मानो वेश्याओं के नेत्र घूम रहे हों।

वीर हनुमान युद्ध-प्रांगण में उत्साह-पूर्वक युद्ध करता है। उसके प्रति स्वयंभू का कथन कितना रोचक बन जाता है -

हणुवन्तु रणो परिवेढिज्जइ णिसियरोहँ ।

णं गयणायलें वाल दिवायरु जलहरेहँ ॥

पर-वल्तु अणन्तु हणुवन्तु एक्कु । गय-जूहहों णाई मइन्दु थक्कु ॥

आरोक्कइ कोक्कइ समुहु थाइ । जहँ जहँ जे थट्टु तहँ तहँ जे धाइ ॥

गय-घड भड-थड भञ्जन्तु जाइ । वंसत्थले लग्गु दवगि णाई ॥

एक्कु रहु महाहवें रस-विसट्टु । परिभमइ णाई वले मइयवट्टु ॥ 65.1

- युद्ध में हनुमान निशाचरों से ऐसा घिरा मानो नभ-तल में बादलों ने बालसूर्य को घेर रखा हो। हनुमान अकेला और शत्रु-सेना अनन्त थी। वह मानो गजघटा के बीच सिंह हो। वह सैन्य-झुण्ड और गजघटा को ऐसा नष्ट करता है मानो बांसों के झुरमुट में अग्नि लगी हो। उस महायुद्ध में उत्साह से पूर्ण एक रथवाला था तथा काल-सदृश सेना में भ्रमण करता रहा।

कवि स्वयंभू ने अद्भुत रस के माध्यम से उत्प्रेक्षा अलंकार का भी वर्णन किया है -

घत्ता - ताव कियन्तवत्त भडेण रिउ आहउ सत्तिए ।

पडणत्थवणइँ दावियइँ णं सूरहो रत्तिए ॥ 80.8

- कृतान्तपत्र सेनापति ने रण में शत्रु को शक्ति से घायल किया मानो रात्रि ने सूर्य को अस्तकालीन पतन दिखाया हो।

एक दिन रावण नित्यालोक नगर से आ रहा था कि उसका यान बिना किसी के रोके हुए रुक गया -

महरिसि-तव-तेएँ थिउ विमाणु । णं दुक्किय-कम्म-वसेण दाणु ॥

णं सुक्केँ खीलितु मेह-जालु । णं पाउसेण कोइल - वमालु ॥

णं दूसामिँण कुडुम्ब-वित्तु । णं मच्छेँ धरिउ महायवत्तु ॥

णं कञ्चण-सेलेँ पवण-गमणु । णं दाण-पहावेँ णीय-भवणु ॥

णीसद्दउ हूयउ किङ्किणीउ । णं सुरएँ समत्तएँ कामिणीउ ॥

घग्घरेँहि मि घवघव-घोसु चत्तु । णं गिम्भयालु दददुरहुँ पत्तु ॥

णरवरहुँ परोप्परु हूउ चप्पु । अहोँ धरणि एजेविणु धरणि-कम्पु ॥

पडिपेल्लियउ वि ण वहइ विमाणु । णं महारिसि भइयए मुअइ पाणु ॥ 13.1

- आकाश में (रावण का) विमान अचानक रुका मानो पापकर्म से दान (अथवा) मानो शुक नक्षत्र से मेघजाल खलित हो, मानो वर्षा से कोयल की ध्वनि, मानो दुष्ट स्वामी से परिवार का धन (अथवा) मानो मच्छ ने महा कमल को पकड़ा हो, मानो सुमेरु पहाड़ ने पवन की गति से, मानो दान के प्रभाव से नीच, भवन किंकिणिया ध्वनिशून्य हुई मानो सुरति की समाप्ति पर कामिनी चुप हों। घन्टियों ने घनघन शब्द करना ऐसा छोड़ दिया मानो मेंढकों के लिए ग्रीष्म-काल आ गया हो अनेक बार प्रेरणा देने पर विमान नहीं चल पा रहा है मानो महामुनि के आतंक से प्राण नहीं छोड़ता है।

मारो-मारो करते हुए लक्ष्मण ने रावण के सिरों को तोड़ दिया मानो रावण का अनीत-फल हो। उसके पुनः चार सिर निकल आये मानो पृथ्वी पर कमल के फूल खिले हों। उनके कटने पर पुनः आठ सिर उग आये मानो नाग-फण में नाग-फण हों। इसी क्रम से वे बढ़ते रहे।

दशानन भयंकर युद्ध करता हुआ पृथ्वी पर गिरा। उस भीषण युद्ध की दशा देखने हेतु अन्तःपुर स्वयं पहुँचा। उसने देखा -

कहि मि आयवत्तइँ ससि-धवलइँ । णं रण-देवय-अच्चण-कमलइँ ।  
 कहि मि तुरङ्ग वाण-विणिभिण्णा । रण-देवयहँ णाइँ वलि दिण्णा ॥  
 कहि मि सरँहिं धरिय णहँ कुञ्जर । णं जल-धारा-ऊरिय जलहर ॥  
 कहि मि रहङ्ग-भग्ग थिय रहवर । णं वज्जासणि-सूडिय महिहर ॥  
 तेण चक्क-सेज्जहिं चडेँवि रण-वहुअँ समाणु णं सुत्तउ ॥ 76.6

- कहीं पर चन्द्र-सदृश श्वेत-छत्र ऐसे पड़ थे मानो रणरूपी देव की अर्चना हेतु कमल। कहीं बाणों से क्षत-विक्षत अश्व पड़े थे मानो रणरूपी देव के लिए बलि दी गई है। कहीं बाणों द्वारा हाथी आकाश में छेदा जा चुका था जो ऐसा मालूम होता था मानो जलधारा से युक्त बादल हो। कहीं टूटे पहियों के रथ तो कहीं, वज्राशनि द्वारा चूर-चूर पर्वत थे। (रावण) मानो आज रणरूपी वधू के समान चक्र की शय्या पर चढ़कर सानन्द सो रहा हो।

युद्ध-वर्णन प्रसंग में वीभत्स रस का चित्र उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत है। रण-क्षेत्र में कटे हुए दीर्घ छत्र मानो यमराज के लिए विशाल थाल हों। खण्डित रथ-चक्र मानो कलिकाल का आसन हो। कटे हुए हाथ-पैर एवं नर-मुण्ड-समूह मानो रसोइयों ने यमराज हेतु विभिन्न प्रकार के व्यंजन तैयार किये हों। इसी प्रकार लाल-लाल संध्या मानो सिंदूर से युक्त सजी हुई गजघटा अथवा वीर के रक्तमांस से लिपटी और आनन्द लेती हुई निशाचरी हो।

इसके अतिरिक्त स्वयंभू ने उत्प्रेक्षा के लिए अनेक कल्पनाएँ की हैं। 'पउमचरिउ' महाकाव्य का कोई विरला ही कडवक ढूँढने से मिलेगा जिसमें कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार के मोह का परित्याग किया हो। कतिपय अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं -

घत्ता - पुरउ परिट्ठिय सेण्णहँ भय - परिहरणहँ ।

णं धुर-धोरिय छ वि समास वायरणहँ ॥ 60.4

× × ×

घत्ता - स पयावइँ कड्ढिय-चावइँ सर-सन्धन्त-मुअन्ताइँ ।

णं घडियइँ विणिण वि भिडियइँ पयइँ सुवन्त-तिडन्ताइँ ॥ 61.1

× × ×

को वि धरिज्जइ वाणेहिँ एन्तउ । णं गुरुहिँ णरु णरँ पडन्तउ ॥ 61.2

× × ×

णिग्गउ कुम्भयण्णु मणे कुइयउ णहयले धूमकेउ णं उइयउ ॥ 59.5

- भयरहित सेना के सम्मुख विभीषण ऐसे खड़ा हुआ मानो छः समास खड़े हों।

× × ×

जिस प्रकार शब्दरूप तथा क्रियारूप आपस में मिलने के लिए निष्पन्न होते हैं मानो वे दोनों

आपस में युद्ध के लिए बनी थी।

× × ×



## ‘णायकुमारचरिउ’ में महाकवि पुष्पदन्त की सौन्दर्य-चेतना

– डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

अपभ्रंश के चरितकाव्यों में ‘णायकुमारचरिउ’ का श्रेष्ठ स्थान है। इस चरितकाव्य के प्रणेता महाकवि पुष्पदन्त (ईसा की दसवीं शती) अपभ्रंश के महाकाव्यों में धुरिकीर्तनीय हैं। इनकी प्रख्यात काव्यत्रयी (तिसट्टि-महापुरिस-गुणालंकार, जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ) में काव्यगुण-भूयिष्ठता की दृष्टि से णायकुमारचरिउ शिखरस्थ है।

इस चरितकाव्य का नायक नागकुमार (णायकुमार) एक राजपुत्र है जो कामदेव का अवतार है। वह मगधनरेश जयन्धर की द्वितीय महिषी पृथ्वीदेवी का पुत्र था। वह अपने वैमात्र भ्राता श्रीधर (मगधराज जयन्धर की प्रथम महादेवी विशालनेत्रा का पुत्र) की विद्वेषनीतिवश अपने पिता द्वारा निर्वासित कर दिया गया। देश-देशान्तरों में भ्रमण करते हुए नागकुमार ने अपने रूप, शील, शौर्य, नैपुण्य, कला-चातुर्य आदि गुणों से अनेक राजाओं और राजपुरुषों को प्रभावित किया। अनेक वीर योद्धा उसकी सेवा में समर्पित हुए।

नागकुमार के पिता ने उसकी कीर्ति-दीप्ति और गुण-वैभव से प्रभावित होकर उसे राजधानी लौट आने को आमन्त्रित किया। नागकुमार मगध-जनपद में अवस्थित पिता की राजधानी कनकपुर लौट आया। पिता ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। लगातार आठ सौ वर्षों तक राज्य-प्रशासन करने के बाद नागकुमार ने अपने जीवन के अन्तिम चरण में वैराग्यभावापन्न होकर मुनिवृत्ति स्वीकार कर ली और तपस्या द्वारा वह सर्वोच्च मोक्षपद का अधिकारी हुआ।

महाकवि पुष्पदन्त ने इसी विलक्षण राजपुत्र नागकुमार के अद्भुत चरित का विस्तार इस चरितकाव्य में अतिशय कला-रुचिर और सौन्दर्य-मण्डित काव्यभाषा में किया है। काव्यभाषा सामान्यभाषा के अन्तःस्थित विशिष्ट भाषा होती है जिसमें ग्रथन-कौशल से लालित्य और सौन्दर्य का आधान होता है। 'गायकुमारचरित' काव्य की अन्तर्वस्तु में महाकवि पुष्पदन्त की, भाषिक गुम्फन की निपुणता से उत्पन्न कला-तत्त्व की वरेण्यता के कारण साहित्यिक सौन्दर्य का मनोमुग्धकारी विनियोग हुआ है। महाकवि ने सौन्दर्य-सृष्टि के क्रम में अपनी कल्पना और सहजानुभूति को भाषिक अभिव्यक्ति द्वारा मूर्त्त रूप देकर अनेक मोहक बिम्बों की भी सृष्टि की है। परन्तु इस निबन्ध में 'गायकुमारचरित' में महाकवि पुष्पदन्त की सौन्दर्य-चेतना पर दृक्पात करना ही मेरा अभीष्ट है। 'गायकुमारचरित' के बिम्बविधान की चर्चा तो स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है।

विकसित कला-चैतन्य से समन्वित यह चरितकाव्य न केवल साहित्यशास्त्र, अपितु सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करता है। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक मूल तत्त्वों में पदशय्या की चारुता, अभिव्यक्ति की वक्रता, वचोभंगी का चमत्कार, भावों की विच्छिन्ति या श्रृंगारिक भंगिमा, अलंकारों की शोभा, रस-परिपाक, रमणीय कल्पना, हृदयावर्जक बिम्ब, रम्य-रुचिर प्रतीक आदि प्रमुख हैं। कहना न होगा कि 'गायकुमारचरित' में इन समस्त कलातत्त्वों का यथायथ विनियोग उपलब्ध होता है। संक्षेप में कहें तो, यह चरितकाव्य रूप, शैली और अभिव्यक्ति, कला-चेतना की इन तीनों व्यावर्तक विशेषताओं से विमण्डित है।

इस चरितकाव्य में यथावर्णित पात्र-पात्रियों और उनके कार्यव्यापारों को चित्रात्मक रूप देने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है। कलाचेता महाकवि पुष्पदन्त ने लोक-मर्यादा, वेश-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, नृत्य-नाट्य, अस्त्र-शस्त्र, पान-भोजन आदि कलात्मक उपकरणों तथा शब्दशक्ति, रस, रीति, गुण, अलंकार आदि साहित्यिक साधनों का इस चरितकाव्य में यथाप्रसंग सम्यक् विनिवेश किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य है - साहित्यिक और कलात्मक सौन्दर्य का ततोऽधिक संवर्द्धन।

सौन्दर्य विवेचन में मुख्यतः नख-शिख के सौन्दर्योद्भावन को अधिक महत्त्व प्राप्त है। महाकवि पुष्पदन्त ने सौन्दर्योद्भावन के क्रम में उदात्तता या भव्यता (सब्लाइमेशन) का विशद विनियोजन किया है। इस सन्दर्भ में वधू के वेश में उपस्थित कनकपुर नगर की रानी पृथ्वीदेवी के सौन्दर्य की उदात्तता और भव्यता दर्शनीय है -

णिय वणिणा कणयउरहो मयच्छि, दिट्टा वरेण णं मयणलच्छि ।  
जो कंतहे णहयलि दिट्ठु राउ, महु भावइ सो णहयरणिहाउ ।  
चारत्तु णहहँ एए कहंति, अंगुट्टय परमुण्णय वहंति ।  
गुप्फइँ गूढत्तणु जं धरंति, णं भुअणु जिणहँ मंतु व करंति ॥  
जंघाजुयलउ णेउरदुएण, वणिणज्जइ णं घोंसेँ हुएण ।  
वगगइ वम्भहु वहुविग्गहेण, जणहुयसंधाए परिग्गहेण ।

ऊरूथंभहैं रइघरु अणेण, रेहइ मणिरसणातोरणेण ।  
 कडियलगरुयत्तणु तं पहाणु, जं धरियउ मयणणिहाणठाणु ।  
 मणि चिंतवंतु सयखंडु जाहि, तुच्छोयरि किह गंभीरणाहि ।  
 सोहिय ससिवयणहे तिवलिभंग, लायणजलहो णावइ तरंग ।  
 थणथडुत्तणु परमाणणासु, भुजजुयलउ कामुयकंठपासु ।  
 गीवहे गइवेयउ हिययहारि, बद्धउ चोरु व रूवावहारि ।  
 अहरुल्लउ वम्भहरसणिवासु, दंतहि णिज्जिउ मोत्तियविलासु ।  
 जइ भउहांकुडिलत्तणेण णर सरधणुरुहेण पहय मय ।  
 तो पुणु वि काइँ कुडिलत्तणहो सुंदरिसिरि धम्मिल्ल गय ॥ 1.17

अर्थात्, कनकपुर में उपस्थित वह मृगाक्षी वधू साक्षात् मदनलक्ष्मी के समान थी। उसके नखतल अपनी कान्ति से नक्षत्रपुंज की तरह प्रतीत होते थे और ऊँचे अँगूठे नखों के सौन्दर्य का बखान कर रहे थे। उसके मांसल टखनों का सौन्दर्य लोक-विजय की मन्त्रणा करता-सा प्रतीत होता था। उसके पैरों के नूपुर अपनी आवाज से उसकी जंघाओं का रूप-वर्णन कर रहे थे। उसके घुटनों की सन्धि के सौन्दर्य पर तो कामदेव का गुमान परवान चढ़ रहा था। ऊरु के स्तम्भों पर अवस्थित उसका रतिगृह मणिनिर्मित करधनी के तोरण से सुशोभित हो रहा था। उसका विशाल कटिभाग कामदेव का कोषागार होने के कारण अपना विशिष्ट मूल्य रखता था। उसके छोटे आकार के उदर में गहरी नाभि का विन्यास देखनेवालों के मन को शतधा विभक्त कर देता था। उस चन्द्रमुखी वधू की त्रिवली की भंगिमा लावण्य के जल में उठते तरंग के समान थी। उसके स्तनों की कठोरता में दूसरे के मान को नष्ट कर देने की शक्ति निहित थी। उसकी भुजाएँ कामियों के लिए कण्ठपाश थे। गले में सुशोभित ग्रैवेयक (हारावली) उसके रूप को चुरानेवालों के लिए बन्धनरज्जु के समान था। उसके अधरों पर कामरस छलक रहा था और दाँत मोतियों की चमक को पराजित कर रहे थे। उस वधू की भौंहों का कुटिल कामशर ही किसी को आहतकर मार डालने में समर्थ था, उसपर उस सुन्दरी के घुँघराले बाल और भी अधिक प्राणहारक थे।

महाकवि पुष्पदन्त ने उस रूपवती वधू को विशेष आभूषणों से अलंकृत नहीं किया है; क्योंकि प्रसिद्ध सौन्दर्यवादी महाकवि कालिदास की सौन्दर्य-विषयक यह उक्ति अवश्य ही उनके ध्यान में होगी - 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'। अर्थात्, जो वस्तु निसर्ग-सुन्दर है, वह सर्वदा और सर्वत्र अलंकृत न किये जाने पर भी सुन्दर ही है। उस मधुर आकृतिवाली स्वयं अलंकारस्वरूपा वधू के लिए विशेष अलंकरण की आवश्यकता ही क्या थी? उसकी आकृति तो नैसर्गिक रूप से सुन्दर थी।

महाकवि द्वारा चित्रित नागकुमार की जलक्रीड़ा के दृश्य में भी अतिशय उदात्त आंगिक सौन्दर्य का बिम्बात्मक उद्भावन हुआ है। महाकवि पुष्पदन्त के परवर्ती (विक्रम की पन्द्रहवीं शती) और अवहट्ट के कालजयी काव्यकार महाकवि विद्यापति ने सद्यःस्नाती का जो चित्र अंकित किया है, 'णायकुमारचरिउ' के इस जलक्रीड़ा प्रसंग से उसका समानान्तर अध्ययन किया जा सकता है। पुष्पदन्त द्वारा चित्रित स्नान-दृश्य इस प्रकार है -

अण्णहिँ दिणि वरु सेविउ घरिणिहिँ, सरे पइदु करि विव सहुँ करिणिहिँ ।  
 पणइणिपरिमिएण वित्थारें, सलिलकील पारद्ध कुमारें ।  
 गयणिवसण तणु जले ल्हक्कावइ, अद्धम्मिल्लु का वि थणु दावइ ।  
 पउमिणिदलजलबिंदु वि जोयइ, का वि तहिँ जिहारा वलि ढोयइ ।  
 का वि तरंगहिँ तिवलिउ लक्खइ, सारिच्छउ तहो सुहयहो अक्खइ ।  
 काहे वि महुयरु परिमलबहलहो, कमलु मुएवि जाइ मुहकमलहो ।  
 सुहुमु जलोल्लु दिट्ठणहमग्गउ, काहे वि अंबरु अंगि विलग्गउ ।  
 काहे वि उप्परियणु जले घोळइ, पाणियछल्लि व लोउ णिहालइ । 3.8 ॥

अर्थात्, एक दिन नागकुमार अपनी दोनों पत्नियों के साथ पद्मसरोवर में वैसे ही प्रविष्ट हुआ, जैसे दो हथिनियों के साथ हाथी सरोवर में आ बैठा हो। जलक्रीड़ा प्रारम्भ होते ही दोनों युवती पत्नियों में से एक ने जल में अपने अंगों को छिपा लिया और एक ने अर्धावृत स्तन का प्रदर्शन किया। कमल के पत्ते पर फिसलते जलबिन्दु, उन युवतियों की टूटकर बिखरी हारावली के दाने के समान दिखाई पड़ते थे। एक ने जल के तरंग में अपनी त्रिवली का प्रदर्शन करते हुए अपने पति से कहा - 'देखो, जल और त्रिवली, दोनों की तरंगों में कितनी समानता है।' एक पद्मिनी पत्नी के सुगन्धित या कमलगन्धी मुखपर भ्रमर कमल की सुरभि को छोड़कर आ बैठा। किसी युवती का झीना और भीगावस्त्र अंग से ऐसा चिपक गया कि नाभि-विवर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा, किसी युवती की ओढ़नी शरीर से खिसक कर जल में तैरने लगी, जिसे लोग जल की छाल समझकर निहारने लगे।

इस स्नान-दृश्य में शृंगार की भाषा में निरूपित उदात्त सौन्दर्य का यह चित्र महाकवि के अन्य अनेक भव्य चित्रों में निदर्शनीय है। इसमें महाकवि ने अपनी रमणीय वचोभंगी द्वारा सौन्दर्य के जिस आवेग को रूपायित किया है वह उदात्त की सृष्टि करता है। महाकवि की यह सौन्दर्यानुभूति उनकी कलानुभूति का ही पर्याय है। निश्चय ही, महाकवि पुष्पदन्त शृंगारिक उदात्त के शिल्पन में असाधारण प्रातिभ चेतना से सम्पन्न कलाकार थे।

महाकवि ने नारी-सौन्दर्य के समानान्तर पुरुष-सौन्दर्य के भी उदात्त चित्र आँकने में विस्मयकारी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। यहाँ नागकुमार के यौवन का सौन्दर्य-चित्र दर्शनीय है -

पुरिससीहु णवजोव्वणे चडियउ, णाईं पुरंदरु सग्गहो पडियहु ।  
 अवसणु सच्छु अरूसणु सूरउ, पवरबलालउ जुत्तायारउ ।  
 दूरालोइ यदीहरसुत्तउ, बुद्धिवंतु गुरुदेवहँ भत्तउ ।  
 सोमु अजिंभचिन्तु कयदाणउ, थूललक्खु पुरिसोत्तमु जाणउ ।  
 अइपसत्थु णिज्जियपंचिंदिउ, थिरु संभरणसीलु बुहवंदिउ ।  
 सोहइ वडुल पाणिपवडुहिँ, उण्णयपायपुट्टिअंगुट्टुहिँ ।  
 उण्णयवित्थिण्णें भालयलें, उण्णयभुयसिहरहिँ बलपवलें ।

तंबतालु तंबिरजीहादलु, तंबणायणु तंबिरकरकमयलु ।  
 तंबाहरु सुतंबणहमंडलु, णिद्धदंतपंती सियणहयलु ।  
 इक्केक्करोम हेमवण्णुल्लउ, लिंगकंठजंघाहँ मडहुल्लउ ।  
 णाहिसोत्तुघोसें गंभीरउ, उरयलि कडियलि पविलउलधीरउ ।  
 पत्तलपेट्टु मज्झे संकिण्णउ, दीहबाहु समसंगयकण्णउ ।  
 णासें णिज्जियचंपयहुल्लउ, णीलणिद्धमउलियधम्मिल्लउ ।  
 पेक्खइ जहँ जहँ जणु तहँ तहँ जि सुलक्खणभरियउ ।  
 वण्णइ काइँ कई जगे वम्महु सइँ अवयरियउ ॥ 3.4 ॥

अर्थात्, जब वह पुरुषसिंह नवयौवन को प्राप्त हुआ तब ऐसा प्रतीत हुआ जैसे स्वर्ग से इन्द्र उतर आया हो। वह व्यसनहीन, स्वच्छ, क्रोधरहित, शूरवीर, महापराक्रमी, उचित कार्य के प्रति सतत सचेष्ट, दूरदर्शी, दीर्घसूत्रता के दोष से रहित, बुद्धिमान, गुरु और देव का भक्त, सौम्य, सरलहृदय, दानी, उदार और ज्ञानी पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित था। वह अपनी पंचेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखनेवाला अतिप्रशस्त युवा था। स्थिरमतिवाला वह विद्वद्वन्दनीय था। उसके प्रकोष्ठ (कोहनी के नीचे की भुजा) वर्तुलाकार थे और उभरे हुए चरणपृष्ठ उन्नत अगूठों से सुशोभित थे। उसका ललाटपट्ट उन्नत और विस्तीर्ण था ? उसके कन्धों में अतुल बल समाहित था। उसके तालु, जीभ, नेत्र, हथेलियाँ और अधर ताम्र वर्ण के थे। उसकी दन्तपंक्ति और नखतल श्वेत वर्ण के थे। उसके रोम स्वर्णाभ थे। उसकी नाभि गहरी और कान के छेद बड़े थे। उसका वक्षःस्थल विशाल और कटिभाग तथा पेट पतला था। मध्यभाग संकीर्ण, भुजाएँ दीर्घ तथा कान सन्तुलित आकार के थे। उसकी नाक की बनावट चम्पा के फूल को मात करती थी। उसके बाल नीले, चिकने और घुँघराले थे। वह अपने अंग-सौन्दर्य से साक्षात् कामदेव का अवतार प्रतीत होता था।

महाकवि पुष्पदन्त द्वारा अंकित नागकुमार का यह रूप-सौन्दर्य केवल नागकुमार का ही नहीं है, अपितु यह राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक भारतीय युवा के रूप-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करता है। महाकवि ने नागकुमार के चरित्र को अवश्य ही एक राष्ट्रीय चरित्र के रूप में निरूपित किया है। महाकवि की इस राष्ट्रीय चेतना में कठोपनिषद् की यह वाणी अनुनादित है - 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।' अवश्य ही महाकवि का यह सौन्दर्य चिन्तन व्यष्टिमूलक नहीं, समष्टिपरक है। कविर्मनीषी पुष्पदन्त परिभू और स्वयम्भू हैं इसलिए उनका उद्देश्य सौन्दर्य के किसी अंश को केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष करा देना नहीं है, न ही सौन्दर्य को उन्होंने नारी या पुरुष की शारीरिक सीमाओं में आबद्ध किया है, अपितु इससे ऊपर निस्सीम सौन्दर्य की व्यापक अवतारणा की है। उनके सौन्दर्य-चिन्तन ने लघु से विराट्, अणिमा से तनिमा की ओर प्रस्थान किया है।

प्रस्तुत लेख में महाकवि पुष्पदन्त द्वारा निरूपित उदात्त सौन्दर्य के दो-तीन प्रतिनिधि चित्रों का दिग्दर्शन कराया गया है। उदात्त प्रेमी महाकवि के इस चरितकाव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के भी अनेक महार्थ चित्र अंकित हुए हैं। इस काव्य में हमारे देश की विपुल धरती पर फैली हुई प्रकृति के सौन्दर्य की सभी सरल-कुटिल रेखाएँ और उनके हल्के-गहरे रंग समेकित रूप में प्राप्त होते

हैं। प्रकृति के इस असीम सौन्दर्य को महाकवि ने गहराई से अनुभव किया है और उसे अपनी कलात्मक कल्पना के सहयोग से मोहक वाग्वैखरी प्रदान की है और उनके द्वारा प्रस्तुत प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रों में यथार्थ के साथ आदर्श का भी स्वल्पाधिक समावेश दृष्टिगत होता है।

महाकवि का सौन्दर्यबोध यदि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से सम्बद्ध है, तो सौन्दर्य के ग्रहण में उनके अन्तःकरण का योग भी आपेक्षिक महत्त्व रखता है। कहना न होगा कि महाकवि ने अपने सौन्दर्य-चित्रण में आध्यात्मिक वृत्ति, गहन आन्तरिकता और विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य प्रकृति-प्रेम को प्रचुर मूल्य प्रदान किया है। इसलिए समष्टि-सर्जना की ओर उन्मुख महाकवि की सौन्दर्यानुभूति सहज ही कलानुभूति में परिणत हो गई है।

पी. एन. सिन्हा कॉलोनी  
 भिखना पहाड़ी  
 पटना-800 006

## करकंडचरिउ : कथा-रूप और शिल्प

- डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'



संस्कृत-साहित्य की परम्परा में परवर्ती प्राकृत-अपभ्रंश के रचयिताओं ने भी कथात्मक-विधा को बहुत अधिक समृद्ध किया। किंतु, अपभ्रंश के जैन मुनियों और आचार्यों ने तो रूप और शिल्प की दृष्टि से इस विधा को जिस प्रकार सजाया, सँभाला तथा नव्यतम साँचे में ढाला वह सचमुच अपभ्रंश-साहित्य की गरिमा बन गया है। उनके द्वारा रचित चरिउ तथा रास आदि काव्य-रूपों में भी कोई-न-कोई कथा ही अनुस्यूत रहती है। ये सभी कथाएँ प्रायः पद्यबद्ध होती हैं। धनपाल-कृत अपभ्रंश की 'भविसयत्तकहा' ऐसी ही पद्यबद्ध रचना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राकृत में लिखी गुणाद्य की 'वृहत्कथा' से ही ऐसी पद्यबद्ध कथाओं की लोक-भाषा में लिखी जाने की परंपरा का संकेत किया है<sup>1</sup> जिस प्रकार 'दूहा' अपभ्रंश का लाड़ला छन्द रहा है उसी प्रकार कथा-काव्यों की मौलिक तथा सरस-संपन्न संरचना इसके साहित्य की अपनी विशेषता रही है। फिर, इस विधा का तो जैन-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कारण, जैनों के साहित्य-प्रणयन का मुख्य उद्देश्य जन-साधारण के हृदय तक पहुँचना था और कथा-साहित्य से बढ़कर ऐसा सुग्राह्य माध्यम दूसरा नहीं हो सकता। एतदर्थ, उन्होंने अपने सभी ग्रंथों को अनेक प्रकार की कथाओं से सरस और मनोरंजक बनाने का प्रयत्न किया।

अपभ्रंश के इन कथा-काव्यों की विषयवस्तु लोक-जीवन से गृहीत होने के साथ-साथ जैन-मुनियों की उर्वर कल्पना-शक्ति की भी परिचायिका है। तत्कालीन प्रचलित विविध लोक-

कथाओं अथवा उनके आधार पर स्वयं नव्य कथाएँ गढ़कर, उन्हें नीति-सदाचार एवं धार्मिक-तत्त्व से संपुष्ट कर एक नूतन काव्य-रूप ही इन्होंने रच डाला।<sup>1</sup> वस्तुतः ये जैन कवि जन-जीवन के चारित्रिक तथा नैतिक-स्तर को उन्नत करने के आकांक्षी थे। इसी से अपभ्रंश साहित्य का यह अंग सामान्य लोक-जीवन के गहरे संपर्क में रहा। उन्हें बहुत दिनों बाद अपनी देसी-भाषा में हृदय की बात कहने का अवसर मिला था। संस्कृत के माध्यम से उस समय उस लोक-जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। पृथ्वी-पुत्रों की वह सारी भाव-संपदा सीधे अपभ्रंश को ही पहली बार प्राप्त हुई।<sup>4</sup> इन कवियों ने चरिउ तथा कथा-काव्य में कोई अंतर निर्दिष्ट नहीं किया है। वे जिसे कथा कहते हैं उसे चरिउ भी। अपभ्रंश के ये चरित-प्रधान कथा-काव्य प्रायः प्रबन्ध-कोटि के हैं जिनमें लोक-जीवन और संस्कृति की सहज-सरस अभिव्यक्ति हुई है।

मुनि कनकामर द्वारा प्रणीत 'करकंडचरिउ' भी ऐसा ही कथा-काव्य है जिसमें करकंड के चरित्र को यथार्थ से आदर्श की ओर गतिशील दिखाकर पारमार्थिक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किया गया है। यही मूलतः भारतीय जीवन का अंतिम प्राप्तव्य एवं पुरुषार्थ है। करकंड की कथा लोक-जीवन में पूर्व काल से प्रख्यात रही है। बौद्ध-साहित्य के कुंभकार-जातक में करंडु राजा की कथा इसका प्रमाण है। जातक में इन्हें प्रत्येकबुद्ध माना गया है। प्रत्येकबुद्ध उन्हें कहते हैं जो स्वयं केवलज्ञान प्राप्त कर लें, किन्तु बिना धर्मोपदेश किये ही शरीरान्त कर मोक्ष चले जावें।<sup>5</sup> किन्तु, उनकी करकंड-संबंधी कथा के साथ प्रस्तुत कथा का कोई विशेष साम्य नहीं है। इसके कवि ने भी सम्पूर्ण कथा में करकंड को कहीं प्रत्येकबुद्ध की संज्ञा नहीं दी है। अस्तु, निश्चय ही यह कथा लोक-जीवन में करकंड नामक किसी विख्यात लोकनायक की है। इसी से लोक-जीवन और संस्कृति का पूरा पुट इसमें देखा जाता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में करकंड की यह कथा दस संधियों में निबद्ध है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में कथा का नियोजन तथा संघटन सर्गों में तथा प्राकृत में आशवासकों में होता था, उसी प्रकार अपभ्रंश में संधियों का प्रयोग मिलता है और प्रत्येक संधि अनेक कड़वकों से मिलकर बनती है, जिनकी संख्या सर्वत्र समान नहीं होती। प्रत्येक कड़वक पुनः अनेक अर्द्धालियों या पञ्जाटिका आदि छन्दों से मिलकर बनता है, जिसकी समाप्ति घत्ता में होती है। किन्तु, इन अर्द्धालियों का विधान भी सब जगह समान नहीं रहता। आलोच्य प्रबन्ध में अधिकांश आठ अर्द्धालियों के पश्चात् घत्ता का प्रयोग किया गया है। इस शैली का प्रभाव परवर्ती हिन्दी-साहित्य की 'रामचरितमानस', कबीर की 'रमैनी' तथा सूफियों के 'प्रेमाख्यानों' में स्पष्टतः देखा जाता है। इसे ही कड़वक शैली कहा जाता है और यह अपभ्रंश के इन प्रबन्ध-काव्यों की प्रधान शैली रही है।

करकंड की मूल कथा इसप्रकार है - एकबार अंगदेश की चम्पापुरी के राजा धाड़ीवाहन कुसुमपुर जाने पर, माली के द्वारा संरक्षिता और संपोषिता कौशाम्बी के राजा वसुपाल की पद्मावती नामक युवती कन्या पर मोहित हो गये, जिसे उसके पिता ने किसी अपशकुन के कारण नदी में बहा दिया था। किन्तु, राजा को इससे क्या ? मन रीझ गया तो रीझ गया। तुरंत पाणिग्रहण

करके उसे चंपापुरी ले आये। तत्युगीन सामंती मनोवृत्ति का यह यथार्थ रूप है। कुछ दिनों बाद वह गर्भवती हुई और उसकी इच्छा हुई कि मन्द-मन्द बरसात में, पति के साथ पुरुष-रूप में, हाथी पर सवार होकर नगर-भ्रमण करूँ। ऐसा हुआ भी। परंतु, दुष्ट हाथी राजा-रानी को लेकर जंगल की ओर भाग निकला। रानी ने इस स्थिति में राजा को किसी पेड़ की डाल पकड़कर प्राण-रक्षा के लिए तैयार कर लिया और स्वयं उस पर बैठी रही। हाथी जंगल में पहुँचकर एक जलाशय में प्रविष्ट हुआ कि रानी ने जल में तैरकर किनारा पकड़ लिया और उस वन में प्रवेश किया। रानी के चरण पड़ते ही वह सूखा हुआ वन हरा-भरा हो गया। यह देखकर वनमाली बड़ा प्रसन्न हुआ तथा रानी को बहन मानकर घर ले आया। किन्तु, उसके रूप-सौन्दर्य के कारण माली की पत्नी उसे सहन नहीं कर सकी और उसे बाहर निकाल दिया। रानी भटकती हुई श्मशान में आई, जहाँ उसने एक पुत्र को जन्म दिया।

पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में रानी अपने दुःख को भुलाने लगती है कि एक चांडाल सामने दीख पड़ता है तथा हठात् बालक को उठा लेता है। रानी के विरोध करने तथा दुःखी होने पर वह कहता है कि यथार्थ में मैं एक विद्याधर था और मुनि के शाप से मातंग हो गया। इस शाप का प्रतिकार भी मुनि ने यह कहकर किया कि दंतिपुर के श्मशान में करकंड का जन्म होगा। उसका पालन-पोषण करने तथा बड़ा होने पर जब उसे वहाँ का राज्य मिल जायेगा, तो वह मातंग पुनः विद्याधर हो जायेगा। रानी इससे संतुष्ट हो गई। मातंग ने बालक को पाला और पढ़ाया-लिखाया। उसके हाथ में कंडु (सूखी खुजली) होने से वह करकंड कहकर पुकारा जाने लगा। उन्हीं दिनों दंतिपुर के राजा का स्वर्गवास हो जाता है। उसके कोई पुत्र न होने से मंत्रीगण यह व्यवस्था करते हैं कि हाथी की सूँड में एक घड़ा जल भरकर दिया जाय। वह जिसका अभिषेक करे वही राजा हो। इसमें करकंड का भाग्योदय हुआ; किन्तु मातंग-पुत्र होने से उसका विरोध भी। तभी मातंग को अपनी विद्याधर-ऋद्धि प्राप्त हो जाती है और वह सबका समाधान करके करकंड को राजा बनवा देता है।

अब करकंड का विवाह गिरिनगर की राजकुमारी मदनावली से हो जाता है। उन्हीं दिनों चम्पा-नरेश का दूत आकर आधिपत्य स्वीकार करने को कहता है। ऐसा न होने पर दोनों में युद्ध होता है। तभी पद्मावती आकर पिता-पुत्र का परिचय कराती है। धाड़ीवाहन प्रसन्न होकर, चंपापुरी का राज्य करकंड को सौंपकर, वैराग्य धारण करते हैं।

इसके बाद करकंड द्रविड़ देश के चोल, चेर तथा पांड्य नरेशों पर चढ़ाई करता है। मार्ग में तेरापुर नगर के राजा शिव ने वहाँ की गुफाओं का परिचय दिया और बतलाया कि एक हाथी नित्यप्रति सूँड में जल तथा कमल लेकर यहाँ भगवान् पार्श्वनाथ पर चढ़ाने आता है। एक विद्याधर आकर यहाँ के महत्त्व को बतलाता है। दो अन्य विद्याधरों की कथा से प्रभावित होकर करकंड वहाँ दो गुफाएँ बनवाता है। उसी समय एक विद्याधर हाथी का रूप धारणकर मदनावली को हर ले जाता है। शोकाकुल होने पर पूर्वजन्म के साथी एक विद्याधर के समझाने तथा पुनः संयोग के आश्वासन पर वह शांत होता है।

पुनः करकंड सिंहल द्वीप पहुँचता है और राजपुत्री रतिवेगा से विवाह करता है। लौटने पर जल-मार्ग में उसकी नौका पर एक मच्छ धावा करता है। करकंड समुद्र में कूदकर मच्छ को तो मार देता है, पर लौटकर नहीं आता। समुद्र में ही एक विद्याधर की पुत्री उसका अपहरण कर लेती है। उधर रतिवेगा दुःखी होकर पूजा-पाठ में जुट जाती है। किंतु, कुछ दिनों बाद नव-वधू-सहित करकंड रतिवेगा से आ मिलते हैं। इसके बाद वह द्रविड़ राजाओं पर विजय प्राप्त करके, उनके मस्तकों पर पैर रखते हैं कि जिन-प्रतिमा के दर्शन होते हैं इससे वे बड़े दुःखी होते हैं तथा उनका राज्य लौटाना चाहते हैं। लेकिन वे स्वीकार नहीं करते। करकंड पुनः तेरापुर लौटते हैं; तभी कुटिल विद्याधर मदनावली को लाकर उन्हें सौंप देता है। तदुपरि, रानियों के साथ चंपापुरी लौटकर राज-सुख भोगने लगते हैं।

एक दिन वनमाली उपवन में शीलगुप्त नामक मुनि के आगमन की सूचना देता है। करकंड परिवार तथा परिजनों के साथ भक्ति-भाव से उनके दर्शनार्थ प्रस्थान करता है। रास्ते में पुत्र-शोक में व्याकुल एक अबला को देखकर उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है। मुनि के पास पहुँचने और धर्मोपदेश से वैराग्य प्रबल हो जाता है। करकंड उनसे तीन प्रश्न करता है। मुनि उसके पूर्वजन्म की कथा कहकर उनका समाधान करते हैं। रानियों को भी व्रत एवं तप का महत्त्व बतलाते हैं। तत्पश्चात् करकंड अपने पुत्र को राज्य देकर मुनि हो जाते हैं और पद्मावती तथा अन्य रानियाँ भी अर्जिका बनकर धर्मानुसरण करती हैं। इस प्रकार कथा की इतिश्री हो जाती है।

करकंड की इस मूल कथा में अन्य अवांतर कथाओं का भी विधान किया गया है। ऐसी प्रथम चार कथाएँ द्वितीय संधि में वर्णित हैं। पाँचवीं कथा पाँचवीं संधि में निबद्ध है तथा छठी कथा भी इसी के अंतर्गत एक अन्य कथा है। इन्हें विद्याधर शोकाकुल करकंड को शांति एवं पुनः संयोग-हेतु सुनाता है। सातवीं कथा सातवीं संधि में तथा सातवीं-आठवीं संधि की आठवीं कथा को पद्मावती ने शोक-संवलित रतिवेगा को सुनाया है। नौवीं कथा एक तोते की कथा के रूप में आठवीं कथा का ही अंग है। इसे मुनिराज ने पद्मावती को यह समझाने के लिए सुनाया कि नारी भी अपने नारीत्व का त्याग कर सकती है। इनमें से कुछेक कथाएँ तो निश्चय ही तत्कालीन समाज में प्रचलित रही होंगी और कुछेक रचयिता की कल्पना की उपज हैं। शुक की कथा संस्कृत-साहित्य में भी मिलती है। जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्यों में मूल या आधिकारिक-कथा को विकसित करने अथवा गंतव्य तक पहुँचाने के लिए अनेक प्रासांगिक कथाओं का विधान किया जाता है; वैसा यहाँ इन अवान्तर कथाओं का कोई योगदान नहीं है। किसी घटना अथवा उससे जुड़े किसी महत्त्वपूर्ण बिन्दु को समझाने या स्पष्ट करने के प्रयोजन-मात्र से इनका संघटन किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध की मूल कथा छोटी-छोटी कई कथाओं के मेल से शृंखलाबद्ध है। फिर भी, कथा-संघटन में जटिलता न होकर सरलता ही मिलती है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं और संघर्षों की क्रिया-प्रतिक्रिया में उग्र बनकर चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं। अंत में, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्थापित करने एवं जन्म-जन्मान्तरों के कथा-सूत्रों से जोड़ने में कथा

का अंत होता है। छोटी-छोटी अवांतर-कथाओं के समावेश के कारण यहाँ अतिलौकिक बातों का सहज प्रवेश हो गया है। पौराणिक प्रभाव भी इन पर देखा जाता है। फिर भी, रोचक स्थलों के अतिरिक्त वर्णनात्मकता में भी सरसता एवं मधुरता का निर्वाह हुआ है। राज्याभिषेक के बाद करकंड के दंतिपुर में प्रवेश के समय, नगर की नारियों के हृदय की व्यग्रता का बिम्ब सचमुच मुनि कनकामर के रसिक हृदय का सहज परिचय देता है -

क वि रहसई तरलिय चलिय णारि । विहडप्फड संठिय का वि वारि ॥  
 क वि धावइ णवणिवणेहलुद्ध । परिहाणु ण गलियउ गणइ मुद्ध ॥  
 क वि कज्जलु वहलउ अहरे देइ । णयणुल्लएँ लक्खारसु करेइ ॥  
 णिगंथवित्ति क वि अणुसरेइ । विवरीउ डिंभु क वि कडिहिं लेइ ॥  
 क वि णेउरु करयलि करइ बाल । सिरु छंडिवि कडियले धरइ माल ॥<sup>6</sup>

अपभ्रंश के कथा-काव्य सामान्यतः तीन रूपों में मिलते हैं। प्रेमाख्यानक, व्रत-माहात्म्य-प्रदर्शक और उपदेशात्मक। प्रथम दो का कथा-संघटन प्रायः समान होता है। अपभ्रंश के चरिउ-काव्यों में भी इन्हीं का अनुसरण होता है। प्रेमाख्यानों की प्रवृत्ति लोक-कहानियों से प्रभावित होती है, तो दूसरा रूप पौराणिक-परंपरा के साहचर्य में पल्लवित होता है। प्रस्तुत 'करकंडचरिउ' का कथा-रूप इन दोनों से प्रभावित है। तभी कवि की कल्पना का मेल तथा धार्मिकता का आवरण पौराणिक-रूढ़ियों के साथ देखा जाता है। श्रोता-वक्ता की कथा रूढ़ि का प्रयोग प्रारंभ में न होकर, कथा के अंत में करकंड तथा मुनि और पद्मावती एवं मुनि के परस्पर संवादों में दर्शनीय है। यहीं उपदेशात्मक-प्रवृत्ति का भी साक्षात्कार होता है। अस्तु, जैनाचार्यों द्वारा लिखित प्राकृत की 'समराइच्चकहा' तथा 'वसुदेवहिण्डि' जैसी धर्म-कथाओं की परंपरा इन चरिउ-काव्यों में चलती प्रतीत होती है। 'ये चरिउ-काव्य तथा कथात्मक-ग्रंथ प्रायः धर्म के आवरण से आवृत्त हैं। अधिकांश चरिउ-काव्य प्रेमाख्यानक या प्रेम-कथापरक काव्य हैं। इन सुन्दर और सरस प्रेम-कथाओं को उपदेश, नीति और धर्म-तत्त्वों से मिश्रितकर इन कवियों ने धर्म-कथा बना डाला।'<sup>7</sup> धार्मिक-उद्देश्य के अनुसार लोक-कथाओं को मोड़ने और कुछ नया गढ़ देने की यह प्रवृत्ति हिन्दी के परवर्ती सूफी-प्रेमाख्यानों में भी दीख पड़ती है। अनेक काव्य-रूढ़ियों तथा कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग भी कथा-संघटन के लिए उनमें इन्हीं के प्रभाव-स्वरूप किया गया प्रतीत होता है। हिन्दी के आदिकालीन अनेक रास-काव्य तथा मध्यकालीन प्रबंध-काव्य इस दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य के सदैव ऋणी रहेंगे।

'करकंडचरिउ' में इस प्रकार की अनेक काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। प्रथम संधि के 11<sup>थ</sup> कड़वक में ही श्री जिनेन्द्रदेव की चरण-वन्दना की गई है (1.1.1-10)। तदुपरि, इसी संधि के द्वितीय कड़वक में प्रतिपाद्य-विषय का संकेत किया है -

जणसवणसुहावउ महरु ललित । कल्लणयविहिर यणेण कलित ॥  
 पुणु कहमि पयडु गुणणियरभरित । करकंडणरिदहो तणउ चरित ॥<sup>8</sup>

– मैं उस करकंड नरेन्द्र के चरित्र का वर्णन करता हूँ, जो लोगों के कानों को सुहावना, मधुर और ललित लगनेवाला है, पंच-कल्याणक विधिरूपी रत्न से जटित है और जो गुणों के समूह से भरा हुआ एवं प्रसिद्ध है।

साथ ही अपनी अल्पज्ञता प्रकट करते हुए, पूर्ववर्ती कवि एवं आचार्यों को नमन किया है।<sup>9</sup> अंतिम दसवीं संधि के 28वें कड़वक में अपना परिचय देते हुए आत्म-निवेदन किया है -

मइँ सत्थविहीणइँ भणित किं पि। सोहेविणु पयडउ विबुहु तं पि ॥  
परकज्जकरणउज्जुयमणाहँ। अप्पाणउ पयडिउ सज्जणाहँ ॥  
कर जोडिवि मगिगउ इउ करंतु। महो दीणहो ते सयलु वि खमंतु ॥<sup>10</sup>

– मुझ शास्त्र-विहीन ने जो कुछ कहा है, उसे विद्वान् शोधकर प्रकट करें। मैंने तो परोपकार में उद्यत-मन सज्जनों को आत्म-भाव प्रकट किया है और हाथ जोड़कर यह माँगा है कि वे मुझ दीन के समस्त दोषों को क्षमा करें।

धनपाल भी 'भविसयत्तकहा' में अपने काव्य की पतवार विद्वानों को यह कहकर सौंपते हैं कि मैं मन्दबुद्धिवाला, गुणों से हीन तथा व्यर्थ का व्यक्ति हूँ। हे बुधजन! तुम मेरी काव्य-कथा को संभाल लेना -

बुहयण संभालमि तुम्ह तेत्थु, हउं मन्दबुद्धि णिगुण विरत्थु ।

सज्जन-प्रशंसा तथा दुर्जन-निन्दा ऐसी ही उक्तियों का ध्वन्यर्थ है। पुष्पदंत तो दुर्जनों की टेढ़ी भृकुटियाँ देखने से गिरि-कंदराओं में घास खाकर रहजाने को अच्छा कहते हैं।<sup>11</sup> परवर्ती हिन्दी की आदिकालीन रास तथा रासक-कृतियों के साथ, मध्यकालीन प्रबन्धों में इन्हें यथावत् देखा जा सकता है। 'पृथ्वीराज-रासो' का कवि तो अपने कृतित्व को पूर्व-कवियों का उच्छिष्ट - 'तिनैकी उचिष्टी कवीचंद भख्खी' कहकर विनम्रता प्रकट करता है। जायसी स्वयं को पूर्व-कवियों का 'पिछलगू' - 'हौं कवित केर पिछलगू' - कहता है और तुलसीदासजी 'कवित-विवेक एक नहिं मोरे' कहकर अपनी अल्पज्ञता का ही निवेदन करते हैं। पुनः 'जो कोई इस चरित्र को पढ़ेगा, सुनेगा, मन में चिंतन करेगा अथवा जनपद में प्रकट करेगा, वह नर संसार में प्रतिष्ठित होकर, गुणों से युक्त सुंदर कीर्ति को प्राप्त करेगा'<sup>12</sup> कहकर जिस प्रकार करकंडचरित के धार्मिक प्रयोजन को इंगित किया गया है, वैसा अपभ्रंश की परवर्ती कृतियों तथा हिन्दी की अनेक रचनाओं में अवलोकनीय है।<sup>13</sup>

इसीप्रकार कथा-संघटन में रोचकता एवं सरसता का समावेश करने के लिए विविध कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग मुनि कनकामर ने यहाँ किया है। लोक-कहानियों की यह अपनी विशेषता रही है। यहाँ प्रयुक्त कथा-रूढ़ियों को निम्न रूप में देखा जा सकता है -

1. अपशकुन के कारण पुत्री को नदी में बहाना, 2. युवती के रूप पर मोहित होना अथवा रूप-गुण-श्रवण से प्रेमोदय और विवाह, 3. दोहदकामना, 4. हाथी द्वार राजा-रानी को लेकर जंगल में भागना, 5. रानी के सूखे वन में प्रवेश से उसका हरा-भरा होना, 6. स्त्री की स्त्री के

रूप पर ईर्ष्या, 7. श्मशान में पुत्र पैदा होना, 8. मातंग (चांडाल) द्वारा पुत्र का लिया जाना और पालन-पोषण करना, 9. हाथी द्वारा राज्याभिषेक, 10. मातंग को पूर्व विद्याधर ऋद्धि प्राप्त होना, 11. पिता-पुत्र के मध्य युद्ध होना और माता द्वारा दोनों का परिचय कराना, 12. दिग्विजय के लिए राजाओं के मस्तक पर पैर रखने का संकल्प लेना, 13. पर्वत की गुफा की बामी में स्थित जिन-प्रतिमा पर हाथी-द्वारा जल तथा कमल चढ़ाया जाना, 14. प्रतिमा की गाँठ में जलवाहिनी का निकलना, 15. जिन-प्रतिमा का अचल होना, 16. विद्याधरों द्वारा वेश-परिवर्तन, 17. मानवेतर जीवों द्वारा सहायता, 18. सिंहलद्वीप की राजपुत्री से विवाह, 19. जल-मार्ग में मच्छ द्वारा नौका पर आक्रमण, 20. जल में विद्याधर-पुत्री द्वारा राजा का अपहरण और उसके साथ विवाह, 21. रानी को वैराग्य होना, 22. पद्मावती-देवी का प्रकट होना, 23. पराजित राजाओं के मस्तक पर पैर रखते समय जिन-प्रतिमा का दर्शन होना, 24. अपहरण की हुई रानी को पुनः विद्याधर द्वारा राजा को सौंपना, 25. पूर्व-जन्म की कथाओं में विश्वास, 26. मुनि के उपदेश से वैराग्य और फिर दीक्षा, 27. तप-द्वारा नारीत्व का अंत तथा रानियों का वैराग्य, आदि।

ये सभी कथारूढ़ियाँ लोक-जीवन में विविध स्रोतों से संबद्ध हैं। कुछ धार्मिक हैं, तो कुछ लोक-कहानियों से गृहीत; कुछेक प्रेमाख्यानक हैं, तो कुछ निजंधरी-कथाओं से संबंधित। इन कथारूढ़ियों या अभिप्रायों (Motif) के प्रयोग से जहाँ कथानक में रोचकता आती है वहाँ कथा को गति भी मिलती है। फलतः पाठक या श्रोता उससे स्वयं को दूर नहीं कर पाता। डॉ. सत्येन्द्र इन्हें ही कला-तन्तु कहते हैं और किसी भी असाधारण तत्त्व को ऐसा मानते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'करकंडचरिड' की यह कथा लोक-जीवन से उद्धृत है जिसे कवि-कल्पना एवं विविध कथानक-रूढ़ियों ने सजाया-सँवारा है। तभी तो लोक-मानस, लोक-मनोविज्ञान तथा लोक-संस्कृति का भव्य चित्र यहाँ दर्शनीय है। अपभ्रंश के अन्य कथा-काव्यों की भाँति इसमें भी यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़ने तथा जीवन के चरम-लक्ष्य की प्राप्ति का संदेश निहित है तो जन-सामान्य की मांगलिक भावनाओं की मधुर अभिव्यंजना भी हुई है। सामान्यतः इसमें जीवन के घोर दुःखों के बीच उन्नति का मार्ग प्रदर्शित है जिस पर चलकर कोई भी व्यक्ति सुख एवं मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसकी मूल कथा छोटी है, पर वस्तु-वर्णन तथा विभिन्न अभिप्रायमूलक घटनाओं के योग से समूचे जीवन का चित्र चित्रित करनेवाले प्रबंध-काव्य का रूप ग्रहण कर लेती है। इसके कथानक का विकास मानव-जीवन की पूर्णता को ध्यान में रखकर क्रमशः होता है, जिसे नायक-नायिका संयोग-वियोग के आवर्तों में झूलकर, अंत में संसार से निवृत्त होकर पारमार्थिक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होकर प्राप्त करते हैं।

करकंड के चरित-संबंधी इस कथानक को तीन भागों में रखा जा सकता है - जन्म से लेकर, दंतीपुर के राजा बनने की कथा, पिता से युद्ध और दिग्विजय तथा शेष जीवन और धर्मानुष्ठान। प्रथम दो के अंतर्गत कवि मानव-जीवन के घात-प्रतिघात, भोग-उपभोग, वैभव तथा ऐश्वर्य एवं उतार-चढ़ाव को लोक-कहानी की रोचक-शैली में आकलित करता है और फिर अंतिम भाग में उसके पारमार्थिक सत्य को उजागर करता है। इसप्रकार कथानक का पूर्वाद्ध शृंगार के संयोग-वियोग से रंजित है, तो उत्तराद्ध में उसका पर्यवसान शांत रस से संपुक्त है। अपनी इस

रसाभिव्यंजना में उसने औचित्य का सर्वत्र ध्यान रखा है। शृंगार-वर्णन में न तो कहीं संयोग-काल की क्रियाओं का अथवा नख-शिख का निधान है और न वियोग में आंतरिक भावों का विस्तृत विश्लेषण। यों मदनावली के अपहरण के समय करकंड के और करकंड के अपहरण के समय रतिवेगा के वियोग का कतिपय अर्द्धालियों में संकेतभर किया है।<sup>15</sup> लगता है, लोक-जीवन की इस विधा को कवि वैराग्य के जागरण के निमित्त ही चित्रित करता है, इसमें उसका मन रमा नहीं। मदनावली के अपहरण के समय करकंड को उदास हुआ देखकर, विद्याधर अपने संबोधन में नारी को नरक-वास उत्पन्न करनेवाली कहकर उसकी निन्दा करता है।<sup>16</sup> यों वीर-रस का आकलन भी यहाँ हुआ है पर उसकी परिणति भी रससिक्त कर देनेवाली नहीं है। करकंड चम्पा-नरेश से तो क्षमा माँगता ही है, दक्षिण के चेल-चोल राजाओं से भी विजयी होकर, उनके मस्तक पर जिन-प्रतिमा को देखकर पश्चात्ताप करता हुआ, क्षमा-याचना करता है तथा उनका राज्य लौटाना चाहता है। अस्तु, लौकिक-सुख की प्राप्ति इसका कोई प्रयोजन नहीं है, बल्कि ऐसी घटनाओं के साथ ही कथा निर्वेद की ओर सहज गति से बढ़ती है, जो इसका प्राप्त्य है इसी से करकंड के चरित की महत्ता का यहाँ प्रतिपादन हुआ है और इसके माध्यम से पारलौकिक-सुख के लिए पूर्व-जन्म के सिद्धान्त में विश्वास एवं धार्मिक व्रत-कथाओं के फल का निरूपण किया गया है।

इस कथा का नायक करकंड ही है जो प्रेमी राजकुमार है। अपभ्रंश की ऐसी अन्य रचनाओं के नायक भी सौदागर या व्यवसायी वणिक-पुत्र एवं राजकुमार ही हैं। इन सभी में धीरता के तो दर्शन होते हैं पर उदात्त-अनुदात्त होने के कठोर बंधन का प्रतिपालन नहीं हुआ है। करकंड भी इस रूप में अपवाद नहीं है। इसमें औदार्य, शौर्य, क्षमा, धैर्य साहस और विवेक आदि गुणों का सहज समावेश तथा विकास दिखाई देता है। इस प्रकार ये प्रमुख पात्र मनुष्यत्व से देवत्व की ओर अग्रसर हुए हैं। अस्तु अपभ्रंश के इन चरित-प्रधान कथा-काव्यों में स्पष्ट रूप से नर से नारायण बनने की गाथा गर्भित है। इनमें जिस पौराणिकता का निरूपण हुआ है वह न तो हिन्दुओं के पौराणिक राम-कृष्ण आदि अवतारों की कथा से समता रखती है और न अपभ्रंश में लिखित जैनों के पुराण-साहित्य के साथ। बल्कि, यहाँ लोक-पुराण की आधार-भूमि पर कथा तथा पात्रों के सहज विकास को चित्रित करके आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। इस दृष्टि से अपभ्रंश का यह साहित्य अपना अलग ही अक्षुण्ण महत्त्व रखता है। इसमें साहित्य का रस भी है और जीवन का रस भी; इसमें लोक-परलोक दोनों का सामंजस्य है, मानवीय प्रकृति का सहज विकास है। अतः, काव्य-रूप के विचार से इस कथा-कृति को न तो चरित-काव्य कहने से ही संतोष होता है और न लोक-कहानियों के आधार पर रचा हुआ कथा-काव्य। पौराणिक-रोमांटिक-काव्य<sup>17</sup> कहने पर तो इसकी मानवोचित नैतिक एवं धार्मिक मूल्यवत्ता ही खतरे में पड़ जाती है। अस्तु, कथा-रूप की दृष्टि से इसे लोक-परंपरा का पौराणिक एवं धार्मिक चरित-प्रधान कथा-काव्य कहा जा सकता है। इसका नामकरण भी इसी घटना पर आधारित न होकर, प्रधान पात्र के नाम पर ही हुआ है। नर से नारायण बनने का सत्य भी इसी से सहज अनुकरणीय हो गया है।

अस्तु, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यह प्रबन्ध जैन-धर्म की साधना की दृष्टि से जितना महत्त्वपूर्ण है, काव्य-रूप और शिल्प की दृष्टि से भी परवर्ती साहित्य का उपजीव्य बन गया है। जसहरचरिउ, गायकुमारचरिउ, नेमिनाथचरिउ आदि अपभ्रंश की ऐसी ही कृतियाँ हैं। परंतु, करकंडचरिउ में कथा-काव्यों की जितनी कथा-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है, उतनी अन्य किसी में नहीं। फिर, इसके कथा-विन्यास एवं संघटन में, मूल-कथा के साथ अवान्तर-कथाओं के संयोजन में, लोक-भाषा अपभ्रंश के सहज-ग्राह्य, सरल एवं लाक्षणिक प्रयोग में, रस और परिस्थिति के अनुरूप छन्द-विधान में एवं अभिव्यंजना की विविध नूतन-पुरातन शैलियों के उपयोग में सर्वत्र मौलिकता ही दीख पड़ती है। सचमुच, जैन-कवि की कारयित्रि एवं भावयित्रि प्रतिभा का ऐसा सुन्दर सामंजस्य अन्यत्र नहीं।

1. There are also religious novels written entirely in verse. A romantic epic of this kind is the 'Bhavisatta-kaha' in Apabhrans by Dhanpal. The explicit aim of the narrative is the glorification of the Panchmivrata.  
- A History of Indian literature - By M. Winternitz p. 532.
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 61 ।
3. हिन्दी के आदिकालीन रास और रासक काव्य-रूप, डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी', पृष्ठ 78 ।
4. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवरसिंह, पृ. 235 ।
5. करकंडचरिउ, सम्पादक - डॉ. हीरालाल जैन, प्रस्तावना, पृ. 28 ।
6. करकंडचरिउ, संपादक - डॉ. हीरालाल जैन, 3.2.2-6, पृ. 32 ।
7. अपभ्रंश-साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 41 ।
8. करकंडचरिउ, संपादक - डॉ. हीरालाल जैन, 1.2.2-3, पृ. 2 ।
9. वायरणु ण जाणामि जइ वि छंदु । सुगप्रजलहि तरेव्वइँ जइ वि मंदु ॥  
जइ कह व ण परसइ ललियवाणि । जइ बुहयणलोयहो तणिय काणि ॥  
जइ कवियणसेव हु मइँ ण कीय । जइ तडयणसंगइँ मालिण कीय ॥  
तो सिद्धसेण सुसमंतभद् । अकलंकदेव सुअजलसमुद् ॥  
जयएव सयंभु विसालचित्तु । वाएसरिघरु सिरिपुप्फयंतु ॥  
- करकंडचरिउ, संपा. हीरालाल जैन, 1.2.5-9, पृ. 2
10. वही, 10.28.6-7 ।
11. महापुराण, पुष्पदंत, हिंदी-काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन पृ. 178 ।
12. करकंडचरिउ, संपादक - डॉ. हीरालाल जैन, 10.28, घत्ता, पृ. 160 ।
13. (i) जो पढइ-ए वसह वदीत, सो नरो नितु नव निहि लहइए। - भरतेश्वर बाहुबलिरास, रास और रासान्वयी काव्य - ना. प्रचा. सभा, छंद 203, पृ. 82  
(ii) पढइ गुणइ जे संभलहि, ताहइ विघ्न टलेसि। बुद्धिरास, वही, 63, पृ. 90  
(iii) गंगा सनान दिन प्रति लहय। जे नरिंद रासो सुनय ॥ - पृथ्वी. रासो, वही, पृ. 2506

(iv) कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इन भवनिधि तरहीं ॥

– रामचरित मानस, उत्तरकांड

14. लोक साहित्य-विज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 217 ।
15. करकंडचरित, संपादक – डॉ. हीरालाल जैन, 7.11. 9-16, पृ. 98 ।
16. वही, 5.16, 2-6, पृ. 74 ।
17. अपभ्रंश-भाषा और साहित्य, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, पृ. 85 ।

49-बी, आलोक नगर  
आगरा-282010



## संदेश-रासक में प्रकृति-चित्रण

- डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा

‘संदेश-रासक’ प्रधान मुस्लिम कवि अब्दुल रहमान की महत्त्वपूर्ण एवं अत्यधिक सुन्दर काव्य-कृति है। अपभ्रंश-साहित्य में लौकिक खण्ड-काव्यों में संदेश-रासक का प्रथम स्थान है। वस्तुतः शुद्ध लौकिक जन-भावनाओं को प्रकृति के साथ जिस मनोवैज्ञानिक धरातल पर अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) की यह काव्यकृति प्रस्तुत करती है वह अत्यन्त दुर्लभ है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपभ्रंश के प्राप्त काव्यों में से यही एक काव्य है जो कि एक मुसलमान कवि द्वारा प्रणीत है।<sup>1</sup>

संदेश-रासक एक लौकिक रासक काव्य है। लौकिक रासक काव्यों का कालान्तर में (जैन-साहित्येत्तर) दो दिशाओं में विकास हुआ। प्रथमतः वीरतापरक रास, रासो के रूप में जैसे - पृथ्वीराज-रासउ, परमाल-रासो आदि तथा दूसरे लौकिक प्रेम-गाथात्मक रास, रासक के रूप में, जैसे - संदेश-रासक, विकसित हुए।<sup>2</sup>

बारहवीं शती में लिखित संदेश-रासक का रचनाकार अब्दुल रहमान संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा, उनकी काव्य-रूढ़ियों एवं काव्य-परिपाटियों से पूर्णतः परिचित था। इसके साथ ही वह देशी भाषा का माहिर प्रयोक्ता भी रहा है।<sup>3</sup> उनके इस काव्य पर सर्वत्र भारतीय आदर्शों का प्रभाव देखा जा सकता है। डॉ. रामकुमार वर्मा का यह कथन वस्तुतः कितना सटीक है जब वह कहते हैं कि “यद्यपि ये मुसलमान थे तथापि इनकी कविता में हिन्दू-संस्कारों की आत्मा निवास कर रही है।”<sup>4</sup>

223 छन्दों की इस रचना का विषय विप्रलंभ शृंगार है जिसका अन्त संयोग (मिलन) में होता है। अन्त में नायिका का नायक से मिलन कवि की स्वतंत्र मौलिक उद्भावना है। प्रायः विरह काव्यों में नायिका का नायक से मिलन इतना शीघ्र नहीं होता। इस खण्ड काव्य की कथा बहुत संक्षिप्त अथवा अत्यल्प है। “कवि ने लोक-जीवन से उद्भूत स्वच्छंद और अकृत्रिम कथा के आधार पर अपने काव्य की रचना की है।”<sup>15</sup> जैसलमेर के विजयनगर नामक नगर की एक विरहिणी सामोर (मुल्तान) से आते हुए एक पथिक को अपना विरह निवेदन कर रही है, जो खम्भात जा रहा है, जहाँ उसका पति रहता है। वह पथिक के द्वारा अपने पति को एक संदेश भेजना चाहती है, लेकिन संदेश समाप्त ही नहीं हो पाता है। जब-जब पथिक जाने को उद्यत होता है, नायिका उसे नवीन प्रसंग में उलझाकर रोक लेती है। इसी प्रकार कई बार होता है। अन्त में पथिक उस विरह-विदग्धा को सान्त्वना देता हुआ पूछता है कि तुम्हारा पति किस ऋतु में गया था ? इसके उत्तर में वह कहती है कि वह ग्रीष्म ऋतु में गया था। बस अब क्या था ? इसके बाद वह छहों ऋतुओं में उत्पन्न विरह की पीड़ाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने लग जाती है। एक के बाद दूसरी ऋतुएं बदलने लगती हैं। कवि की सहज भावधारा काव्यमयी भाषा में अनेक छन्दों में प्रकृति की छटा को विकीरण करने लगती है।<sup>16</sup>

संदेश-रासक की सम्पूर्ण कथा 223 छन्दों एवं 3 प्रक्रमों में विभाजित है। अपभ्रंश या देशी भाषा में लिखित प्रथम मुसलमान कवि की इस रचना में ही प्रथम बार प्रक्रमों में कथा-विभाजन प्राप्त होता है।<sup>17</sup> प्रथम प्रक्रम में प्रस्तावना, द्वितीय में कथा प्रारंभ तथा तृतीय प्रक्रम में षट्ऋतु वर्णन है। इसमें संदेह नहीं है कि प्रकृति चित्रण की दृष्टि से तृतीय प्रक्रम ही सर्वाधिक महत्व का है।

मनुष्य का प्रकृति से सहजात संबंध है। अपने चतुर्दिक वह प्रकृति से आवृत है। यूँ कहा जाये कि मनुष्य की सृष्टि ही पंच प्राकृतिक तत्वों से हुई है, तो वह उससे अलग कैसे रह सकता है ? दार्शनिकता की दृष्टि से भी प्रकृति, जीव और आनन्द-सच्चिदानन्द स्वरूप ही है। डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह का यह कथन उचित ही है कि “दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवात की तरह घेरे रहती है। .... मानव और प्रकृति के इस अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है। साहित्य मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचारी प्रकृति का प्रतिबिम्ब होना स्वाभाविक है।”<sup>18</sup> इसीलिए अब्दुल रहमान ने ग्रंथारंभ में ही मंगलाचरण में समुद्र, पृथ्वी, पहाड़, पेड़ तथा आकाश के स्रष्टा को स्मरण कर प्रकृति और मानव के सम्बन्ध की दृढ़ता को ही दिखाया है।<sup>19</sup>

भारतीय साहित्य में वैदिककाल से लेकर आधुनिक सभ्यता तक मानव कितने ही उतार-चढ़ाव देखता आ रहा है, किन्तु कभी भी वह प्रकृति से विलग नहीं रह सका। प्रकृति के विपरीत आचरण उसके दुःख का कारण रहा है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के पूर्वार्द्ध में प्रकृति और मानव-जीवन को विलग करना आसान नहीं है। कालिदास और भवभूति के काव्य में प्रकृति को केवल जड़ कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी प्रकृति को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है।

साहित्य में प्रकृति का अनेक रूपों में चित्रण हुआ है। किन्तु काव्य में उसके दो रूप अधिक प्रसिद्ध रहे हैं - आलम्बन और उद्दीपन। इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल का मानना है कि कालिदास या इससे पूर्व से ही दृश्य-चित्रण के दो मार्ग थे। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता बहुत दिनों तक बनी रही पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथनमात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन।<sup>10</sup> इस दृष्टि से महाकवि कालिदासकृत ऋतुसंहार एवं मेघदूत के प्रकृति-चित्रण में यह उद्देश्य-भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है। किन्तु, कभी-कभी कवियों ने एक साथ ही सभी ऋतुओं का वर्णन विशिष्ट पद्धति में न करके यथावसर पात्रों के मुँह से ऋतुसौंदर्य का उद्घाटन करवाया है। कहीं-कहीं इस प्रकार के वर्णन इतने सुन्दर और स्वाभाविक हैं कि वे स्वतंत्रप्रकृति-वर्णन से कम अच्छे नहीं हैं। राजशेखर की कर्पूरमंजरी में इस प्रकार के कई सुन्दर प्राकृत श्लोक मिलते हैं।<sup>11</sup>

‘पउमचरिउ’ अपभ्रंश का प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें महाकवि स्वयंभूदेव ने ग्रीष्म और वर्षा का जो स्वतंत्र रूप से सहज एवं प्राकृत वर्णन किया है वह किसके मन को नहीं मोह लेगा! पावस और ग्रीष्म के युद्ध का वर्णन उत्प्रेक्षा के द्वारा कितना आकर्षक बन पड़ा है -

जल-वाणासणि-घायहिं घाइउ, गिम्भ-णाराहिउ रणों विणिवाइउ ।  
दददुर रडेवि लग्ग णं सज्जण, णं णच्चन्ति मोर खल दुज्जण ।  
णं पूरन्ति सरिउ अक्कन्दें, णं कइ किलिकिलन्ति आणन्दें ।  
णं परिहुय विमुक्क उग्घोसे, णं वरहिण लवन्ति परिओसें ।  
णं सरवर बहु-अंसु-जलोल्लिय, णं गिरिवर हरिसें गज्जोल्लिय ।  
णं उण्हविअ दवागिग विओएं, णं णच्चिय महि विविह-विणोएं ।  
णं अत्थमिउ दिवायरु दुक्खें, णं पइसरइ रयणि सइँ सुक्खें ।  
रत्त-पत्त तरु पवणाकम्पिय, ‘केण वि वहिउ गिम्भु’ णं जम्पिय ॥<sup>12</sup>

अर्थात् पानी की तीव्र बून्दोंरूपी बाणों के तीक्ष्ण प्रहार से ग्रीष्मरूपी राजा युद्ध में मारा गया। जिसके कारण मेंढक सज्जनों की तरह रोने लगे और मोर दुष्टों की तरह नाचने लगे। नदियाँ अश्रुप्लावित हो बहने लगी और कवि प्रसन्न हो गए। ऐसा लगता था मानो कोयलें बोलने को स्वतंत्र हो गई हों और मोर संतोष व्यक्त कर रहे हों। तालाब मानो दुःख के आंसुओं से लबालब भर गये हों और पर्वत पुलकायमान हो रहे हों। पृथ्वी तपन के वियोग में नाचने लगी हो। दुखित-मन सूर्य अस्तंगत हो रहा हो और रजनी में सर्वत्र सुख व्याप्त हो गया हो। वृक्ष नव कोंपल जैसे सहजभाव से पूछ रही हो कि ‘ग्रीष्म किसके द्वारा मारा गया?’

इस प्रकार महाकवि स्वयंभू के परम्पराबद्ध प्रकृति-चित्रण में अलंकारों का खुलकर प्रयोग हुआ है। महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने ‘महापुराण’ में प्राकृतिक दृश्यों की झड़ी लगा दी है। प्राकृतिक दृश्य चित्रण में प्रकृति का आलंबनरूप में मनोमुग्धकारी चित्र प्रस्तुत करना ‘महापुराण’ की विशेषता है। इस परम्परा में ‘भविष्यत्तकहा’, ‘हरिवंशपुराण’, ‘जसहरचरिउ’, ‘जम्बूसामिचरिउ’, ‘करकण्डचरिउ’, ‘पउमसिरीचरिउ’ आदि अनेक अपभ्रंश काव्यों को देखा जा सकता है।

अपभ्रंश काव्यों की परम्परा में लौकिक खण्ड काव्य 'संदेश-रासक' का प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से कई अर्थों में विशेष महत्त्व है। यह रचना एक प्रकार से प्रकृतिपरक जनभावना की सहज अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक सौन्दर्य ने भौगोलिक सीमाओं को भी सजीव कर दिया है। 'संदेश रासक' का पाठक पथिक और रमणि के दृश्य-चित्रण में खो जाता है। वह तादात्म्य स्थापित कर ऐसा अनुभव करता है जैसे वह स्वयं खुली प्रकृति के आंगन में आ खड़ा हुआ हो। यही 'संदेश-रासक' के प्रकृति-चित्रण की विशेषता है।

निस्संदेह 'संदेश-रासक' में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ है। उद्दीपन का प्रयोग संयोग या वियोग की तीव्रता को प्रकट करने के लिए किया जाता है। 'संदेश-रासक' में चित्रित 'षट्ऋतु-वर्णन' इसी लक्ष्य की पूर्ति करता है। पथिक द्वारा सहानुभूति प्रकट करते हुए जब विरह-विधुरा नायिका से यह पूछा गया कि तुम्हारा प्रिय तुम्हें कब छोड़कर गया था तो वह तपाक से जवाब देती है कि जिस ग्रीष्म ऋतु में वह अपने प्रियतम द्वारा छोड़ी गई वह ग्रीष्म भी आग में जल जाये।<sup>13</sup> कितना स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक उत्तर है। इस प्रकार 'संदेश-रासक' में ग्रीष्म ऋतु से षट्ऋतु वर्णन प्रारम्भ होता है।

'ग्रीष्म' का आगमन क्या हुआ उस संयुक्ता पर विरह का पहाड़ टूट पड़ा। 'विरोधाभास' अलंकार के द्वारा वह अपनी विरहावस्था के भुक्त सत्य का उद्घाटन करने लगी। विरह में मलय समीर भी असह्य हो गया। तीव्र एवं जला देनेवाली सूर्य की किरणों से प्रकृति भी जलने लगी (131)। तीखी रवि किरणों के प्रहार से धरती का कलेजा 'तड़-तड़' शब्द कर तड़कने लगता है और तूफानी अंधड़ चलने लगते हैं (132)। पपीहे 'पिउ पिउ' की रट लगाने लगते हैं तथा नदियों का जल सूखने लगता है (133)। और तो और ग्रीष्म ऋतु में उस कामपीडिता विरहिणी को शीतलता प्रदान करनेवाले सभी उपादान भी दाहक लगने लगते हैं। वह कहती है -

हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,  
तं सिंहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ ।  
ठविय विविह विलवंतिय अह तह हारलय,  
कुसुममाल तिवि मुवइ झाल तउ हुइ सभय ॥ 135 ॥  
णिसि सहणिह जं खित्तु सरिरह सुह जणणु,  
विउणउ करइ उवेउ कमलदलसत्थरणु ।  
इम सिज्जह उट्टंत पडंत सलज्जिरिहि,  
पढिउ वत्थु तट दोहउ पहिय सगगिरिहिं ॥ 136 ॥

- प्रिय-विरह में जलती हुई नायिका को चंदन-लेप सर्पदंश की तरह दाहक लगने लगता है, कुसुममाला ज्वाला-सी तपाती है और शय्या पर बिखरे कमल-दल भी विरह दुःख को द्विगुणित करते हैं। यही नहीं रविकरों से अरविंद तपने लगते हैं, चन्द्रमा भी दाहक लगता है और कुसुम भी जले पर नमक छिड़कते हैं -

वियसाविय रवियरहि तविहि अरवियतवणि,  
अमियमओ विहु जणइ दाह विसजम्मगुणि ।  
दंसिउ दुसहु भुअंगि अंगि चंदणु तवइ,  
खिवइ हारु हारुब्भवु कुसुम सरिच्छयइ ॥ 137 ॥

जैसे-तैसे ग्रीष्म को तो विरहिणी बिता देती है किन्तु वर्षाकाल तो प्राणलेवा ही लगता है। वर्षाकाल में कवि अब्दुल रहमान का मन ग्रीष्म से अधिक/द्विगुणित रमा है। महाकवि कालिदास का यक्ष तो 'आसाढस्य प्रथम दिवसे' ही प्रिया-विरह में उत्क्षिप्त होने लगा था। ऐसे में एक मानवी की क्या स्थिति होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है।

विरह-विदग्धा प्रेयसी नायिका ने देखा कि आकाश में काले-काले बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे हैं तो वह समझ गई कि वर्षाकाल आ गया है। बादलों की गड़गड़ाहट के साथ विद्युत कौंधने लगी, जिसकी चमक में जमीन पर पगडण्डी दिखाई देने लगती है, आकाश में उड़ती हुई बक-पंक्ति सुशोभित होती है तथा पपीहे तृप्ति व्यक्त करते हुए सरस शब्द करने लगते हैं। पोखरों का पानी उफनकर रास्तों में बहने लगा है, जिससे पथिकों ने अपने जूते हाथों में ले लिये हैं, नदियां कल-कल नाद कर प्रवाहित होने लगी हैं और आवागमन सहसा रुक गया है।

ग्रामीण परिवेश में वर्षा का इतना जीवन्त चित्रण राजस्थानी के लोक महाकाव्य 'ढोला मारु-रा दूहा' के समान ही पाठक के मन को मोह लेता है। कवि की कल्पना का चित्र निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है, जब उसे पृथ्वीरूपी नायिका को अपने प्रियतम मेघ की प्रतीक्षा करनी पड़ती है -

कइमलुल धवलंग विहाविह सज्जरिहि  
तडिनएवि पय भरिण अलक्ख सलज्जरिहि ।  
हुउ तारायणु अलखु वियंमिउ तम पसरु,  
छन्नउ इन्दोएहि निरंतर धर सिहर ॥ 143 ॥

वर्षा के आगमन पर प्रकृति-नटि आनन्द-विभोर हो नृत्य करने लगती है। बगुले वृक्षों पर, मोर शिखरों पर, मेंढक जलाशयों में और कोयल आम्रशिखर पर चढ़कर अपनी-अपनी वाणी में आनन्द की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। किन्तु ये प्राकृतिक उपादान विरहिणी के हृदय में प्रिय-विरह की ज्वाला को सुलगा देते हैं।

वर्षाकालीन संध्या का एक सहज सुन्दर चित्र देखिए -

मच्छरभय संचडिउ रन्नि गोयंगणिहि,  
मषाहर रमियइ नाहु रंगि गोयंगाणिहि ।  
हरियाउलु धरवलउ कयंबिण महमहिउ,  
कियउ भंगु अंगंगि अणंगिण मह अहिउ ॥ 146 ॥

– मच्छरों के भय से गायें ऊंचे स्थल पर चली गयी हैं। गोपांगनाएं अपने प्रियतमों से मनोहर क्रीड़ाएं कर रही हैं। यह सब देखकर विरह-विदग्धा नायिका को कामदेव ने बेबस कर दिया है। इस प्रकार प्रिय-विरह में रात्रि व्यतीत करना कितना कठिन है ? ग्रीष्म ऋतु की तपन तो शान्त हो गई, किन्तु प्रिय विरहोत्पन्न तपन का क्या करें ? सच ही कहा है –

**पुण वि पिण्ण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति ॥ 138 ॥**

– प्रिय की विरहाग्नि प्रिय द्वारा ही बुझती है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

‘वर्षा विगत शरद् ऋतु आई’। जैसे-तैसे वर्षाकाल तो व्यतीत कर दिया किन्तु अब शरद् ऋतु आ गई है। यह समय किस प्रकार व्यतीत होगा ? महाकवि अब्दुल रहमान ने ‘संदेश-रासक’ में शरद् का वर्णन करने में अत्यधिक रुचि दिखाई है। ग्रीष्म का वर्णन 16 छन्दों में, वर्षा का 18 छन्दों में तथा शरद् का वर्णन 27 छन्दों में कर शरद्-चित्रण के प्रति अपनी अभिरुचि का प्रदर्शन किया है। वस्तुतः ‘संदेश रासक’ के कवि ने ‘षट्ऋतु वर्णन’ के बहाने विरहिणी की मार्मिक भावनाओं का उद्घाटन ही किया है। आकाश में उदित अगस्त्य नक्षत्र से शरदागम की सूचना मिल जाती है और सर्वत्र शरद की चन्द्रिका ज्योतित हो उठती है –

गय विहरवि बलाहय गयणिहि,  
मणहर रिक्ख पलोइय रयणिहि ।  
हुयइ वासु छम्भयलि पुणिंदह,  
पुरिय जुह निसि निम्मल चंदह ॥

शरदागमन पर आकाश में बादल फट गये हैं। रात तारों से छा जाती है। सर्प बिलों में घुस जाते हैं और सर्वत्र चांदनी छिटकने लगती है। तालाबों का जल कमल-दल से पुनः शोभित होने लगता है। हंस कल-कल ध्वनि करने लगते हैं। सरोवर-तटों पर श्वेत काश खिल उठता है। जल स्वच्छ होकर दर्पणवत प्रतिबिम्बित होने लगता है। हंसों का आवागमन बढ़ जाता है। लेकिन साथ ही शरदकाल में जल छीजने के साथ विरहिणी नायिका भी छीजने लगती है। जुगनुओं की चमक और सारसों की सरस ध्वनि हृदय विदीर्ण करने लगती है। इसके विपरीत संयुक्ताओं का हृदय आनन्दोल्लास से ओत-प्रोत होने लगता है। इस प्रकार कवि ने अत्यधिक सरस, मनोहारी एवं मनोवैज्ञानिक चित्र उकेरने का सफल प्रयास किया है। एक चित्र द्रष्टव्य है –

अच्छहि जिह सन्निहि घर कंतय ।  
रच्छिहि रमहि ति रासु रमंतय ।  
करिवि सिंगारु विविह आहरणिहिं,  
चित्तविचित्तिहिं तणु पंगुरणिहिं ॥ 167 ॥  
तिलु भालयालि तुरक्कि तिलक्किव,  
कुंकुमि चंदणि तणु चच्चक्किव  
सोरंडहिं करि लियहि फिरंतिहि,  
दिव्व मणोहरु गेउ गिरंतिहि ॥ 168 ॥

यह सब देखकर एक विरहिणी अपने हृदय को कैसे वश में रख सकती है ? जल में बोलते हुए हंस और चक्रवाकों की ध्वनि में मानो शरद ऋतुरूपी नायिका के नूपुर ध्वनित होने लगते हैं। ऐसी सुन्दर, सुखद रात्रि विरहिणी नायिका को यमदूती-सी लगने लगती है। सम्पूर्ण वातावरण में आबाल-वृद्ध शरद-सुख से ओत-प्रोत है। देखते-देखते दीपावली आ जाती है। गृहलक्ष्मियाँ घरों में दीपक जलाती हैं और आंखों में काजल आँजती हैं। रंग-बिरंगे वस्त्रों में सुसज्जित तथा अपने प्रियतमों के साथ रंगरेलियाँ करती हुई उन रमणियों को देखकर नायिका का हृदय विदीर्ण होने लगता है। आखिर मदनाक्रान्ता विरहिणी पथिक से अपने प्रियतम के पौरुष को चुनौती देती हुई कहती है -

कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्ल चंदह,  
अह कलरउ ण कुणति हंस फल सेवि रविंदह ।  
अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण,  
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण ।  
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्तु घण कुसुमभरु  
अह मुणित पहिय ! अणरसित्तु पित सरइ समइ जु न सरइ घरु ॥ 183 ॥

शरद के बाद हेमन्त ऋतु आती है। हेमन्त जैसे-तैसे बीत जाती है, क्योंकि इतस्तः तुषारापात होने लगता है और ठण्ड के कारण प्रेमी-युगलों के शयन कक्ष नीचे की मंजिल में आ गये हैं। दिन छोटे होने लगे हैं। ऐसे में विरहिणी की खीज देखते ही बनती है।

‘शिशिर ऋतु’ आ जाती है। ठण्डी हवाओं के झोंकों के चलने से वृक्षों के पत्ते झड़ने लगते हैं। लगता है - ‘ऋतु बसन्त जाचक भया, छोड़ दिये द्रुम पात’। लोग अग्नि की शरण में चले जाते हैं। ईख का रस पीया जाता है। संयुक्ताएँ प्रसन्न रहती हैं। देखते-देखते शिशिर ऋतु भी चली जाती है। वस्तुतः “हेमन्त और शिशिर-वर्णन में कवि को प्रकृति का बहुत कम ध्यान रहता है। इन ऋतुओं का वर्णन करते समय उसका ध्यान मानव-व्यापारों पर ही अधिक केन्द्रित रहता है।”<sup>14</sup> “बसन्त ऋतु-वर्णन में कवि अब्दुल रहमान का मन अधिक रमा है। वह ‘संदेश-रासक’ के षट्ऋतु-वर्णन में सर्वाधिक लम्बा वर्णन (28 छन्दों में) बसन्त का ही करता है, किन्तु “बसन्त का वर्णन करते समय भी अद्दहमाण का ध्यान प्रकृति में उतना नहीं रमता जितना कि सुखी प्रेमियों की विलास-केलि और नायिका के विरह-दुःख का वर्णन करने में।”<sup>15</sup>

बसन्तागमन का प्रारंभ होता है त्रिविध शीतल, मंद, सुगंध पवन से। मलयानिल ने वातावरण में सर्वत्र मादकता भर दी है। ऐसे में प्रिय-विरह में व्याकुल विरहिणी के हृदय की क्या अवस्था होगी, यह निम्न छन्द में द्रष्टव्य है -

गयउ गिम्हु अइ दुसहु वरिसु उब्बिन्नियइ,  
सरउ गयउ अइकट्टि हिमंतु पवन्नियइ ।  
सिसिर फरसु वुल्लीणु कहव रोवंतियइ,  
दुक्करु गमियइ एहु णाहु सुमरंतियइ ॥ 204 ॥

वृक्षों पर सर्वत्र नव कोंपलें आ गई हैं, केतकी पुष्पायित हो रही है, भौरें गूंजने लगे हैं, किंशुक और पलाश फूल रहे हैं। झड़ता हुआ पुष्प-पराग, लहलहाता अशोक का वृक्ष और सहकार वृक्ष व्यर्थ ही अपने गुणों को धारण करते से नजर आने लगते हैं। यदा-कदा आकाश में विचरनेवाले मेघों को देखकर केकी-कण्ठ कल्लोलित हो उठता है। एक क्षण के लिए प्रकृति का उल्लास नायिका के लिए 'यम का पाश' बन जाता है -

खणु मुणिउ दुसहु जमकालपासु,  
णाव कुसमिहि सोहिउ दस दिसासु ।  
गय णिवड णिरंतर गयणि चूय,  
णव मंजरि तत्थ वसंत हूय ॥ 215 ॥

इस प्रकार 'संदेश-रासक' के प्रकृति-वर्णन को देखने से पता चलता है कि वह मेघदूत की अपेक्षा ऋतुसंहार के निकट है। यद्यपि मेघदूत और संदेशरासक दोनों विरह काव्य हैं; जबकि ऋतुसंहार संयोगकालीन ऋतु-वर्णन, फिर भी संदेश-रासक का प्रकृति-चित्रण मेघदूत की भाँति स्वच्छन्द नहीं है। इनमें प्रकृति की झाँकी ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत दिखाई गई है। यहाँ परिवर्तित ऋतुओं में प्रकृति विरहजन्य दुःख की विविध छायाओं का अनुभव कराती है।<sup>16</sup>

'संदेश-रासक' में विशेषरूप से प्रकृति का उद्दीपनरूप ही अधिक-उजागर हुआ है। वस्तु-परिगणन शैली का भी कवि ने प्रयोग किया है, किन्तु वह प्रभावहीन रहा है। 'द्वितीय प्रक्रम में 'सामोरु' नगर का वर्णन करते समय कवि ने नगर की वनस्पतियों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है। उसमें केवल वनस्पतियों की नीरस नामावली-भर मिलती है।<sup>17</sup>

लेकिन 'संदेश-रासक' का ऋतु-वर्णन उद्दीपनपरक होते हुए भी स्वाभाविक और आकर्षक है। कवि ने प्रकृति-वर्णन में अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ एवं मर्म को छूने की कला में प्रवीणता का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। इसीलिए 'हिन्दी काव्यधारा' में डॉ. राहुल सांकृत्यायन को कहना पड़ा था कि भारतीय साहित्य में मेघदूत के बाद संदेश काव्यों में 'संदेश-रासक' का अनूठा स्थान है।

1. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, वि. सं. 2013, पृ. 247 ।
2. संदेश-रासक, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं त्रिपाठी, 1960 ई., पृ. 9 ।
3. अपभ्रंश भारती, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर, जन.-जुलाई '93, पृ. 25 ।
4. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सन् 1964, पृ. 123 ।
5. संदेश-रासक, भूमिका, पृ. 123 ।
6. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, धीरेन्द्र वर्मा, सन् 1959, पृ. 114 ।
7. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 16 ।
8. अपभ्रंश भारती, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर; जुलाई '92, पृ. 11-12 ।

9. संदेश-रासक, प्रथम प्रक्रम, छन्द - 1 ।
10. चिन्तामणि, प्रथम भाग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 21 ।
11. अपभ्रंश भारती, जयपुर; जुलाई 1992, पृ. 13 ।
12. पउमचरिउ, 28.3 ।
13. संदेश-रासक, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं त्रिपाठी, पृ. 32, छन्द सं. 129 ।
14. संदेश-रासक, भूमिका, पृ. 66 ।
15. संदेश-रासक, भूमिका, पृ. 66-67 ।
16. संदेश-रासक, भूमिका, पृ. 67 ।
17. वही, भूमिका, पृ., 69 ।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,  
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय  
कोटपूतली (जयपुर)

---

## जहिँ सुरवरतरुणंदणवणाइँ

तहिँ संठिउ ससहररविपईउ	पहिलारउ पविउलु जंबुदीउ ।
वियरंतकोलखंडियकसेरु	तहों मज्झि सुदंसणु णाम मेरु ।
खेडामगामपुरवरविचित्तु	तहों दाहिणदिसि थिउ भरहखेत्तु ।
तहिँ मगहदेसु सुपसिद्ध अत्थि	जहिँ कमलरेणुपिंजरिय हत्थि ।
जहिँ सुरवरतरुणंदणवणाइँ	जहिँ पिक्क सालि धण्णाइँ तणाइँ ।
वयसयहंसावलमाणियाइँ	जहिँ खीरसमाणइँ पाणियाइँ ।
जहिँ कामधेणुसम गोहणाइँ	घडदुद्धइँ णेहारोहणाइँ ।
जहिँ सयलजीवकयपोसणाइँ	घणकणकणिसालइँ करिसणाइँ ।
जहिँ दक्खामंडवि दुहु मुयंति	थलपोमोवरि पंथिय सुयंति ।
जहिँ हालिणिकलरवमोहियाइँ	पहिँ पहियइँ हरिणा इव थियाइँ ।
पुंडुच्छुवणाइँ चउदिसु चलंति	जहिँ महिससिं गहय रसु गलंति ।
जहिँ मणहरमरगयहरियपिंछ	मायंदगोँछि गोंदलिय रिंछ ।

घत्ता — तहिँ पुरवरु णामें रायगिहु कणयरयणकोडिहिँ घडिउ ।  
बलिवंड धरंतहों सुरवइहिँ णं सुरणयरु गयणपडिउ ॥ 6 ॥

णायकुमारचरिउ 1.6

— उस मध्यम लोक में सबसे विशाल जम्बूद्वीप है, जहाँ सूर्य और चन्द्र का प्रकाश होता है। उस जम्बूद्वीप के मध्य में सुदर्शन नामक मेरु है, जहाँ काँस को खोदते हुए सूकर विचरण करते हैं। उसे मेरु की दाहिनी दिशा में भरतक्षेत्र स्थित है। जो खेड़े, ग्राम और उत्तम नगरों से विचित्र दिखाई देता है। इसी भरतक्षेत्र में सुप्रसिद्ध मगध देश है, जहाँ कमलों के पराग से रंजित हाथी दिखाई देते हैं। जहाँ कल्पवृक्षों के सदृश नन्दन वन हैं। जहाँ पके हुए धान के खेत फैले हुए हैं। जहाँ सैकड़ों बगुलों तथा हंसों की पंक्तियों द्वारा सम्मानित क्षीर के समान पानी से भरे सरोवर हैं। जहाँ की गायें कामधेनु के समान घड़ों दूध देनेवाली और खूब घीवाली हैं। जहाँ के कृषिक्षेत्र समस्त जीवों का पोषण करनेवाले सघन दानों से युक्त बालोंसहित हैं। जहाँ पथिक दाख के मण्डप में अपना दुःख दूर करके स्थल-पद्मों के ऊपर सुख से सोते हैं। जहाँ किसानों की स्त्रियों के कलरव से मोहित होकर पथिक मार्ग में ही हरिणों के सदृश ठहर जाते हैं। जहाँ पौंडे एवं इक्षु के खेत चारों दिशाओं में हिलते-डुलते तथा महिषों के सींगों से आहत होकर रस गिराते दिखाई देते हैं। और जहाँ मरकत मणि के समान मनोहर हरे पंखों से युक्त शुक आमों के गुच्छों पर एकत्र दिखाई देते हैं।

ऐसे उस मगध देश में राजगृह नाम का उत्तम नगर है। जो स्वर्ण और रत्नों की राशि से गढ़ा गया है। मानो बलवान् देवेन्द्रों द्वारा धारण किये जाने पर भी देवनगर आकाश से आ गिरा हो ॥ 6 ॥

अनु. — डॉ. हीरालाल जैन

## अपभ्रंश में संवेदना के नये स्तरों का अन्तःसंधान और उनकी प्रासंगिकता

- डॉ. शंभूनाथ पाण्डेय



ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव संवेदना है। यह वह प्रारंभिक प्रक्रिया या अनुभव है जिसकी उत्पत्ति किसी उत्तेजना से ग्राहक के उत्तेजित होने पर होती है। मनोवैज्ञानिक उण्ट तथा टिचेनर ने हर चेतन अनुभूति में आवश्यक रूप से संवेदना का संधान पाया है। मनुष्य अन्य जीव-जन्तुओं से इसीलिए विशिष्ट प्राणी है क्योंकि वह संवेदनशील है। मानव अपनी विशिष्ट देह-संरचना के कारण घ्राण, रस, त्वचा, दृष्टि तथा श्रोतृ संवेदनाओं से युक्त विशिष्ट संवेदना, अन्तरावयव संवेदना तथा स्नायविक संवेदनाओं का अधिकारी होता है। यह संवेदन सत्ता मनुष्य के भीतर सतत विद्यमान रहती है। पर पाया गया है कि जन के भीतर यह स्तब्ध रूप से पड़ी रहती है। उपयुक्त उद्दीपक या उत्तेजक के अभाव में वह स्पन्दित नहीं हो पाती। यह स्फोट, थिरकन या अन्तःस्पन्दन समाज या जनता की जीवन्तता का प्रतीक बनता है। यह संवेदना सामाजिक होकर सहानुभूति का समानार्थी बन जाती है। जीव-जगत के प्रति इसी संवेदना या सहानुभूति अथवा सहित की उच्च भावना का धनी होने के कारण रचनाकार साहित्यकार कहलाता है। साहित्यकार अपनी रगात्मिका और वैचारिक वृत्ति से जीवन और जगत में उन उद्दीपक उपादानों को सजग और सचेत होकर कलात्मक रूपात्मक अनुभूति का ताना-बाना देकर भाषा के माध्यम से समाज में प्रतिष्ठित करना वांछनीय समझता है, जिससे जनता के भीतर सौन्दर्य चेतना जागृत हो। वह श्रेयस्कर और सुन्दर को पहचाने, जाने-सीखे-रहे और उसका सम्मान करे। जन को सुरचिसंपन्न

और संस्कारित बनाना आसान काम नहीं होता। यह समयबद्ध भी नहीं होता। यह सतत चलनेवाली संघर्षशील गतिमान प्रक्रिया है। यह संघर्ष ही साहित्य की शक्ति है और इसका शक्तिशाली उपादान है भाषा। इसीलिए हर संवेदनशील सर्जक भाषा से संघर्ष और असन्तोष का अनुभव गहरे स्तरों पर बराबर करता रहता है क्योंकि भाषा उसके सम्पृक्त व्यक्तित्व का अनिवार्य और अभिन्न अंग है। अस्पष्ट संवेदनों के रूप में प्रतिभासित अनुभव को हम वास्तविक अर्थ में 'स्वकीय' भाषा के माध्यम से ही बना पाते हैं, अर्थात् भाषा के स्वरूप में ढलने पर संवेदन हमारे विशिष्ट अनुभव-क्षेत्र का अंग बन जाता है। फलतः साहित्यकार के नवीनतम विकास की दिशाएँ प्रमुखरूप से उसकी भाषा-प्रयोग-विधि में प्रतिफलित होती हैं।

विचारशील प्राणी होने के नाते मनुष्य में संवेदनशीलता की अपार सम्भावनाएँ होती हैं। विचारशीलता के चलते ही मनुष्य की संवेदना में व्यापकता और गहराई आती है। उसकी आत्मचेतना या आत्मबोध प्रगतिशील बनकर लोकजीवन और लोकचेतना के साथ संपृक्त हो जाता है। सच्चे रचनाकार में 'ज्ञानात्मक संवेदना' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' का सुष्ठु समन्वय होता है। इसी से वह भावुकता के अतिरेक से बचता है। अयथार्थ और नकली अनुभूतियों से अपना नाता तोड़ता है और बौद्धिकता तथा भावुकता में संतुलन स्थापित कर समाज को शक्ति तथा गति प्रदान करता है।

सर्जना मानवीय संवेदना की क्रिया है, वह व्यक्ति-चेतना की संवेदनशीलता का उच्च अवदान है, मानव की मानवीयता को परिस्फुरित और परिष्कृत करने की क्रिया का परिणाम है। संवेदनशील लेखक सामाजिक गतिविधियों का दर्शक ही नहीं, सहभोक्ता भी होता है। दर्शक का ज्ञान और भोक्ता की संवेदना के संतुलित संयोग से सर्जक की चेतना का निर्माण होता है जिससे कला स्फुरित होती है, जिसके माध्यम से साहित्यकार मानव में जीने की कामना और जीवन में विश्वास पैदा करता है। उसकी जिजीविषा-शक्ति को बढ़ाता है और गहरे स्तर पर मानवीय रागात्मक वृत्ति का प्रसार कर विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामञ्जस्य स्थापित करता है। सच्ची प्रवृत्ति और निवृत्ति की भावना जागरित करता है। यह कार्य वह संप्रेषण के माध्यम से ही करता है जिसकी परिधि में समस्त 'मानवीय संसार' और 'मानवीय सम्बन्ध' तथा 'मानवीय परिवेश' समाहित हो जाते हैं। यानी मानवीय अनुभूति, समसामयिक, सामाजिक यथार्थ, समुचित दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा अभिव्यक्ति कौशल एवं संवेदनशील बोध से जो सर्जना संपृक्त होगी वही सार्थक होगी। यह संवेदनात्मक बोध ही जीवन और समाज के ऊबाऊ, घुटनभरे, रूढ़िबद्ध, पतनोन्मुख और मारक विषम स्थितियों से संघर्ष करता है, उन्हें ध्वस्त एवं नष्टप्राय बनाता है और निर्माणोन्मुख सामाजिक जीवन की विकासात्मक प्रक्रिया में आस्था जागृत करता है।

ऐसी ही जकड़ी और स्तब्ध मनोवृत्ति को तोड़ने और समाज में नयी अन्तश्चेतना फैलाने का काम अपभ्रंश भाषा के कवियों ने अपनी व्यापक मानवीय संवेदना के माध्यम से किया। जनजीवन से कटते जा रहे भाषा के ढाँचे को, अयथार्थ घटाटोप को, संवेदना से हँधी पर व्याकरणिक एवं आलंकारिक जकड़बन्दियों में बंधी भाषा के मोह को ध्वंसकर तथा नीचे से

ऊपर तक की रीतिबद्धता को भ्रंश कर अपभ्रंश भाषा उभड़कर सामने आयी और क्रान्तिकारिता का परिचय दिया। यही कारण है कि पं. राहुल सांकृत्यायन संस्कृत से पालि और प्राकृत, उससे अपभ्रंश और अपभ्रंश से नव्य भारतीय भाषाओं के उदय का ऐतिहासिक क्रम स्वीकार करते हुए भी अपभ्रंश को एक नये प्रकार की भाषा स्वीकार करते हैं।<sup>1</sup> उसकी विशेष लोकसंपृक्ति के कारण ही उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि सुबन्त-तिङ्न्त या शब्द-रूप और धातु-रूप की शैली में दोनों (पालि और प्राकृत) ने संस्कृत का अनुसरण नहीं छोड़ा। '... और अपभ्रंश? यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया। उसने नये सुबन्तों, तिङ्न्तों की सृष्टि की। उन्होंने इसे और स्पष्टता के साथ कहा कि प्राकृत तक भाषा-विकास क्रमिक या अविच्छिन्न प्रवाह-युक्त हुआ, मगर आगे वह क्रमिक विकास नहीं बल्कि विच्छिन्न-प्रवाहयुक्त विकास जाति परिवर्तन हो गया।<sup>2</sup> उसमें धनात्मक नहीं गुणात्मक परिवर्तन हुआ। वह भूषण भाषा घोषित हुई।<sup>3</sup> वह सरलता की ओर अग्रसर हुई। लोक की सरलतागामी प्रवृत्ति का समाहार उसमें पूर्ण रूप से परिलक्षित हुआ। 'अपभ्रंश ने संस्कृत-व्याकरण के विस्तार को अत्यन्त संक्षिप्त करके भाषा के ढाँचे को बहुत सरल बना दिया। संस्कृत और प्राकृत की तरह शब्द-रूप और धातु-रूप को रटने से जान बची। विभक्ति-चिह्नों की संख्या बहुत घट गई, विभक्तियों के विकारी-रूप कारक-निर्माण में समर्थ समझे जाने लगे; कारकों के लिए परसर्ग-प्रयोग की बहुलता आई। क्रियापदों में तिङ्न्त रूपों की जगह कृदन्त रूपों का प्रयोग बढ़ गया। वाक्य-विन्यास में शब्दों का स्थान और क्रम भी महत्वपूर्ण हो उठा।<sup>4</sup> इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश लौकिक धरातल पर उतर कर अपनी सामान्य विशेषताओं के कारण लोगों को आकर्षित कर रही थी, प्रतिष्ठा पा रही थी और लोकधर्मी होकर मात्र 'आभीरादि गिरः' ही नहीं सबकी अन्तरप्रान्तीय भाषा बनती चली जा रही थी। भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक अपभ्रंश के कवियों का काव्य-निर्माण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। छठी शताब्दी से लेकर 14वीं-15वीं शताब्दी तक अपभ्रंश और उत्तरवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट अथवा पुरानी हिन्दी साहित्य पटल पर एकछत्र राज करती रही। यह अपभ्रंश भाषा और उसकी संवेदना के पारस्परिक सामंजस्य के कारण ही संभव हो सका।

साहित्य में संवेदना के प्रायः दो स्वरूपों का संधान मिलता है - रागात्मक और बौद्धिक। जहाँ रचनाकार जन-जीवन के दुःख-सुख के साथ सीधे सम्पर्क में आकर अपनापन या आत्मीयता का विशेष लगाव महसूस करता है वहाँ वह रागात्मक संवेदना का परिचय देता है पर जब रचनाकार मात्र प्रतिबद्धता या सप्रयोजनता का आधार ग्रहणकर रचना करता है वहाँ मात्र बौद्धिक संवेदना दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के पूर्ववर्ती भाषाओं के कवियों में बौद्धिक संवेदना का ही जौहर दिखाई पड़ता है। जिन आलोचकों ने प्राचीन भाषाओं का विधिवत अवगाहन किया है उन्होंने अपभ्रंश की व्यापक संवेदना की शक्ति का भलीभाँति उद्घाटन किया है। उन्होंने अपभ्रंश के कवियों के नवीन जीवनानुभव, बोध तथा रचना-प्रक्रिया की क्षमता तथा अभिव्यक्ति के नवीन साधनों एवं काव्यरूपों को भलीभाँति पहचाना और उन्हें रेखांकित किया। संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के प्रकाण्ड पंडित आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा - "शायद ही भारतवर्ष

के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रगट करते थे। श्री हर्ष के नैषधचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर संतों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।<sup>15</sup> पं. राहुल सांकृत्यायन ने तो सरहपाद को नयी भाषा और नये छंदों के युग के आदि कवि के रूप में स्वीकार किया है और गोरखनाथ, ज्ञानदेव, कबीर तथा अन्य संतों को इन्हीं की परम्परा में माना है क्योंकि सरह की कितनी पंक्तियाँ किंचित् परिवर्तन के साथ पूर्ववर्ती संतों में मिल जाती हैं।<sup>16</sup> अपभ्रंश की संवेदनात्मक चेतना का विस्तार अपनी ऐतिहासिक परिणिति के साथ मात्र मध्यकालीन साहित्य को ही नहीं अपितु परवर्ती साहित्य को भी प्रभावित करने में सक्षम रहा है। यह कहना उचित नहीं होगा कि अपभ्रंश में रूढ़िपोषकता एवं काव्य या कथा-रूढ़ियों अथवा अलंकारों का आग्रह नहीं है पर उसकी नवोन्मेषशालिनी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक जीवन्त रही हैं। अपभ्रंश साहित्य की संवेदना की व्याप्ति का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि जैन मुनियों के भाव-विचार-दर्शन और चिंतन की चिंतामणि जहाँ यहाँ उद्भाषित है वहीं सहज साधना की दूसरी परम्परा की खोज करनेवाले सिद्धों-नाथों की सिद्धवाणी भी इसी में समाहित है। इसमें एक ओर जहाँ धार्मिक-नैतिक आदर्शों, दार्शनिक विचारधाराओं से आध्यात्मिकता की ओर संचरण कराने का संदेश है तो दूसरी ओर रागप्रिय तथा लोकरंजित साहित्य का जीवन्त प्रवाह है। अपभ्रंश में जहाँ शील की शालीनता है, उदात्त, चरित्रवान तीर्थंकर, त्यागी, तपस्वी, सिद्ध, श्लाका पुरुषों की जीवन-गाथा है, वहीं सामान्य गरीब किसान, दुःख और गरीबी की मारी विरहिणी और धनपाल जैसे सामान्य वणिक तथा कोशा वेश्या की दर्दभरी कहानियों की झाँकियाँ भी हैं। इसमें जहाँ भावपूरित स्तुतियाँ, जीवनानुभव से भरी सूक्तियाँ आध्यात्मिक रहस्यमयी अनुभूतियाँ, वैभव विलास की झाँकियाँ तथा इन्हें भी धूल-धूसरित करती हुई संयमश्री की अविचल छवियाँ चित्रित हैं वहीं आभीर, गुर्जर तथा गरीब घरों की वीर-रमणियों की वीरता-शौर्य, साहसयुक्त स्नेहसिक्त उत्प्रेरक वाणियों की छटा देखते ही बनती है। अपभ्रंश के रचनाकारों में एक विचित्र प्रकार का आत्मविश्वास था। वे अपनी संवेदनाओं को किसी भी कीमत पर बिना रोक-टोक के विस्तार देना चाहते थे। चाहे वे स्वयंभू हों, पुष्पदंत या धनपाल अथवा जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सरह, कण्ह या अब्दुल रहमान। इस संदर्भ में अब्दुल रहमान का यह कथन कितना महत्वपूर्ण और सार्थकता लिये हुए है कि यदि मेरी अनुभूति अथवा संवेदना वास्तविक, यथार्थ और मार्मिक है तो उसे मुझे संप्रेषित करना ही है चाहे उसे कोई कुकविता ही क्यों न कहे, 'क्योंकि यदि रात में चन्द्रमा उदित होता है तो क्या घर में रात को दीपक नहीं जलाए जाते? यदि पल्लव जैसे कोमल करों द्वारा बजाई जानेवाली अति मधुर वीणा को लोग सुनते हैं तो क्या

साधारण स्त्रियों के क्रीड़ा-विनोद में बजनेवाले ढोल-रव को न सुना जाये ? यदि विचित्र और विविध प्रकार के, प्रचुर गंध से युक्त पुष्पोंवाला पारिजात वृक्ष जो नन्दनकानन में है, फूलता है तो क्या शेष वृक्ष न फूलें ? तीनों लोकों में जिसका प्रभाव नित्य प्रकटित है, ऐसी गंगा यदि सागर की ओर बहती है तो क्या दूसरी नदियाँ न बहें ?'

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमये ।  
 ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं ॥<sup>7</sup>  
 तंतीवायं णिसुयं जइ किरि करपल्लवेहि अइमहुरं ।  
 ता महलकरडिरवं मा सुम्मउ रामरमणेसु ॥<sup>8</sup>  
 जइ अत्थि पारिजाओ बहुविहगंधइडकुसुम आमोओ ।  
 फुल्लइ सुरिदभुवणे ता सेसतरु म फुल्लंतु ॥<sup>9</sup>  
 अइ अत्थि णई गंगा तियलोए णिच्चपयडियपहावा ।  
 वच्चइ सायरसमुहा ता सेससरी म वच्चंतु ॥<sup>10</sup>

अभिव्यक्ति की इस संकल्पना से प्रेरित होकर अपभ्रंश के कवियों ने अनेक छंदों और विविध काव्य-रूपों में अपनी संवेदनाओं का अर्थ-विस्तार दिया। पुराण, महापुराण, कथा, संधि, कुलक, चउपइ, आराधना, रास, चाँचर, फागु, स्तुति, स्तोत्र, चरित, दोहा, कड़वक आदि जिसमें विशेष प्रचलित हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की तुलना में मात्रिक छंद एवं काव्यरूप 'दोहा' का प्रादुर्भाव अपभ्रंश की अपनी खास विशेषता है। यह नये परिवेश, नयी मनोभावना और नूतन संवेदनाओं का सूचक है। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार श्लोक, गाथा के बाद एक तीसरे झुकाव की सूचना लेकर एक दूसरा छंद भारतीय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश करता है, यह दोहा है। सच बात तो यह है कि जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है<sup>11</sup>। अपभ्रंश को 'दूहा विद्या' भी कहा गया और यह अपभ्रंश का प्रतीक बन गया। इसकी नवीनता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि संस्कृत, प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी। दोहा, वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश-कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा केवल नवीन छंद लेकर ही नहीं आई, बिलकुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई<sup>12</sup> पर जिस बात की ओर उन्होंने विशेषरूप से संकेत किया वह यह है कि यह अपभ्रंश या दूहा विद्या अथवा 'दोहा' नवीन स्वर में बोलता है।<sup>13</sup> और यह नवीन स्वर अपभ्रंश की व्यापक संवेदना और अनुभूति का ही स्वर है। और जब यह स्वर मुखर होता है तो साहित्य के स्वरूप, स्तर, संदर्भ-परिप्रेक्ष्य, केन्द्र और दिशा में भी परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन के इस दायरे में घुसकर ईमानदारी से अपभ्रंश भाषा को टटोलने की कोशिश की जाय तो संवेदना के ऐसे आयाम मिलेंगे जो तात्कालिक संचेतना को तो वहन करते ही हैं साथ ही आधुनिक संवेदना के संवाहक जैसे लगते हैं। नवीन और टटके से जान पड़ते हैं। कतिपय संदर्भों के तुलनात्मक विवेचन से इसका कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है।

आधुनिक साहित्य और 'नयी कविता' की चर्चा का स्वर 'लघु मानव' और 'सहज मानव' के प्रति संवेदनात्मक सज्ञानता एवं सामान्यजन की संज्ञा की पहचान की ओर विशेष रहा है। महानता की मूर्ति भंजित हुई है और सामान्यता की प्रतिष्ठापित। कथा साहित्य में प्रेमचन्द ने किसानों-मजदूरों, कामकरों और सामान्यजनों की संवेदनाओं की प्रामाणिक मनोवैज्ञानिक भावभूमि की अभिव्यक्ति देकर साहित्य में एक नये युग की शुरुआत की थी। उनमें यथार्थ-जीवन का प्रतिबिम्बन है साथ ही सामाजिक जीवन के संघर्षों का सम्मूर्तन भी। हम प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'पूस की रात' और महाकाव्यात्मक उपन्यास 'गोदान' का ही संदर्भ लेते हैं। किसानों की त्रासदी दोनों में व्याप्त है। एक किसान गाय के लिए तरसे और दूसरा दो जून की रोटी तथा सर्दी से बचने के लिए एक कम्बल के लिए तड़पे इससे बढ़कर किसान के जीवन की विडम्बना और क्या हो सकती है? इनकी प्राप्ति के संघर्ष में पूरी जिन्दगी ही व्यथा-गाथा बन जाय यही तो इन दोनों का जीवन है। सब शोषक तत्व जोंक की तरह चूसकर इन्हें किसान से मजदूर बनने को बाध्य करते हैं। किसान और मजदूर जीवन की विडम्बना की वास्तविकता का रेशा-रेशा प्रेमचंद ने उद्घाटितकर रख दिया है। इसीलिए हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गोदान की परिगणना की जाती है। प्रेमचंद के कथा साहित्य में मध्यवर्गीय परिवार और उसमें भी किसानों की कथा प्रमुख है। यह समसामयिकता का परिवेश लिये हुए भी है, तो फिर वह कौन-सा तत्व है जो उसे समसामयिकता के घेरे को तोड़कर सार्वकालिक और सार्वजनीन मर्म को छूती है। निर्विवाद रूप से वह है प्रेमचंद की मानवीय संवेदना की तीखी अनुभूति और पारिवारिक और गार्हस्थिक सहानुभूति; तल्खी, तेवर और विद्रोहात्मक स्वर के साथ। मैं अपभ्रंश के कुछ ऐसे ही संदर्भों की ओर संकेत करना चाहता हूँ जो किसान-सामान्यजन से जुड़े हैं पर जिनकी संवेदनाएँ पारगामी प्रभाव रखती हैं। आज भी मन और मस्तिष्क को झकझोर देने की मर्मस्पर्शिता उनमें व्याप्त है। कतिपय उदाहरणों से इसे स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है।

अभी भी किसानों की गरीबी और फटेहाली का एक दूसरा नाम है। अपभ्रंश के कवियों ने भी इस बेबसी को भलीभाँति देखा था। अपभ्रंश कवि जहाँ शलाका पुरुषों की जीवन-गाथा, संयमश्री को देखते हैं, वहाँ गरीबों की आह-मार को भी। यहाँ एक ऐसा ही किसान है। उसकी गरीबी का आलम यह है कि उसके पास खेती के लिए एक जोड़ी बैल तक नहीं हैं। एक ही धौला (धवल-सफेद रंग का) बैल है। हल खींचने के लिए एक जोड़ी बैल की आवश्यकता है। किसान विवश और चिंतित है। उसे चिंता का भार सताये जा रहा है। परिवार परेशान है। अवसर का तकाजा है कि हल चलाया ही जाय। इस असहायता को धवला बैल देख रहा है, पर यह दृश्य देखकर तो वह विसूर उठता है, रो ही पड़ता है जब उसका मालिक जुए का दूसरा छोर अपने कंधे पर रख अपनी पत्नी से हल की मुठिया थाम लेने को कहता है - 'अपने स्वामी की चिंता तथा जुए के भार को देखकर धवला (बैल) विसूर उठता है, रो पड़ता है, मूक भाषा में यह कहते हुए कि मैं ही क्यों न दोनों दिशाओं में जोत दिया जाऊँ, भले ही मेरे दो खंड क्यों न कर दिए जायें।' घनीभूत संवेदना के तह को समेटे निम्न दोहा -

धवलु विसूरइ सामिअहो गुरुआ भरु पिक्खेवि ।  
हउँ कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥<sup>14</sup>

किसान की जिन्दगी, मान-प्रतिष्ठा, सब-कुछ है उसकी दो बीघा जमीन। वह उसकी रक्षा के लिए जिन्दगीभर संघर्ष करता है। कर्ज के लिए शोषक तत्वों से जुड़ता है। वे उसे जोंक की तरह चूसते रहते हैं। कर्ज से लदा-फदा, सूद-दर-सूद लेता-देता वह अपनी जमीन को रेहन रखता है, यह जानते हुए कि वह अब लौटनेवाली नहीं है। यह भार पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है। गोदान के होरी के पुत्र गोबर की तरह ऐसे ही एक किसान का लड़का विद्रोह के स्वर में चीत्कार करता हुआ आत्मालोचन कर उठता है; बहुआयामी अर्थ को लिये हुए दोहा - उस पुत्र के रहने से कौन लाभ और न रहने से क्या हानि जिसके बाप की भूमि दूसरे के द्वारा चाँप ली जाय, हड़प ली जाय -

पुत्ते जाँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।  
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥<sup>15</sup>

गरीबी का आलम होते हुए भी किसान प्रकृति से धर्मपरायण, परोपकारी, हितरक्षक और शरणदाता होता है। गोदान का होरी तो इसी में अपने का मारता जाता है पर हारता नहीं। इन छोटे तबके के लोगों की तुलना में तथाकथित 'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराय विभूती' की संवेदनाएँ कुंठित होती हैं। एक साहसी किसान अथवा छोटे जन की पत्नी की यह उक्ति कि - यदि तुम किसी बड़े घर के बारे में पूछ रहे हो तो ऊँची हवेलियोंवाले घर वे रहे। परन्तु कष्ट में पड़े लोगों के उद्धार करनेवाले के बारे में पूछ रहे हो तो मेरे कान्त के इस कुटीर को देखो -

जइ पुच्छह घर बड्डाई तो बड्डा घर ओइ ।  
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥<sup>16</sup>

विषम परिस्थितियों से घिरे छोटे जनों में झुंझलाहट, खीझ और गुस्सा का होना स्वाभाविक ही होता है। गुस्सा और पानी हमेशा नीचे की ओर ही उतरता है। पत्नी की प्रताड़ना और कभी-कभी दूसरी स्त्री की ओर जाने की स्वच्छन्दता का सहारा भी इसी क्रम में होता है। पर नारी की सहनशीलता का गुण अपने आप में एक उदाहरण है। एक स्त्री की यह अभिव्यक्ति कि - सखि! प्रिय नाखुश हो गया है, अप्रियकारक हो गया है फिर भी तू उसे मनाकर घर ले आ। अग्नि घर को जला देती है तो भी क्या उसे अपने पास नहीं रखा जाता -

विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।  
अग्गिण दड्डा जइवि घरु तो तं अग्गिं कज्जु ॥<sup>17</sup>

गरीबी की मार बड़ी गहरी होती है। महाकवि तुलसीदास ने उचित ही कहा है कि 'नहिं दारिद्र्य सम दुःख जग माहीं।' द्रव्य जीवन में विविध मोड़ ला देता है। गरीब दूर से देखता है कि 'जिनके पास बुद्धि है, शुद्धि है, दान है, मान है, गर्व है तो यह द्रव्य के कारण ही है। दैवयोग

या अपने दोष से यदि द्रव्य नहीं रहता तो उपरोक्त सभी तत्व लुप्तप्राय हो जाते हैं। गरीब द्रव्य-विहीनता के कारण ही बिना मान-सम्मान के जी रहा है -

ताव बुद्धि ताव सुद्धि, ताव दाण ताव माण ताव गव्व ।  
जाव जाव हत्थ णच्च, विज्जु-रेह-रंग णाइ, एक दब्ब ॥  
एत्थ अंत अप्प-दोष, देव रोस होइ णट्ट, सोइ सब्ब ।  
कोइ बुद्धि कोइ सुद्धि, कोइ दाण कोइ माण, कोई गव्व ॥<sup>18</sup>

अपभ्रंश का कवि सामान्यजन के जीवन के प्रति कहीं भी कम स्पन्दनशील नहीं है। गरीबजनों के प्रति उसकी संवेदनाएँ सहज, स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी हैं। गरीब आदमी के लिए सभी ऋतुएँ, मौसम, हवाएँ कंपानेवाली होती हैं। शीत की वृष्टि, पछुवाँ हवा, जाड़ा का रूठना अग्नि को पेट से लगाने को बाध्य कर देती हैं। हाथ-पैर-पीठ सिमट जाते हैं। प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'पूस की रात' का हलकू पूस की फूस की आग में अपने कुत्ते जबरा को पेट से सटाकर त्रासदीय संवाद की वह स्थिति बनाता है जहाँ से मात्र गरीबी की ही हाय निकलती है। इस तुलनात्मक स्थिति में अपभ्रंश के कवि की मार्मिक अभिव्यक्ति -

सिअ विट्ठी किज्जइ, जीआ लिज्जइ, बाला बुड्ढा कंपंता ।  
बह पच्छा वाअह, लगे काअह, सव्वा दीसा इंपंता ॥  
जइ जड्डा रूसइ, चित्ता हासइ, पेटे अग्गी थप्पीआ ।  
कर पाआ संभरि, किज्जे भित्तरि, अप्पा-अप्पी लुक्कीआ ॥<sup>19</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश के कवियों की संवेदनाएँ समाज के व्यापकतर छोर को छूती हैं। ये वे कवि नहीं हैं 'जिन्हें न व्यापै जगत गति'। अपभ्रंश की कविता की जड़ें अपने सामाजिक परिवेश में गहरे स्तर तक उतरती हैं। मर्म को छूती हैं। सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति देती हैं। सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का जायजा देती हैं। जहाँ भद्रजनों के भावों की ऊँचाई मापती हैं वहीं आम जनता के विभिन्न रूपों की पहचान का प्रयास भी करती हैं। अपभ्रंश का सम्पूर्ण साहित्य अभी मिला नहीं है पर जो भी साहित्य प्राप्त है वह कम मूल्यवान नहीं है। उसकी अपनी महत्ता है। उसकी इस महत्ता को देखते हुए अपभ्रंश के बारे में किसी कवि का कहना समीचीन ही है कि - अपभ्रंश का सौन्दर्य उस सहज, स्वाभाविक, अलंकरण-विहीन सुन्दरी का है जिसके सिर पर जरा-जीर्ण लुगरी और गले में बीस मणियाँ तक नहीं हैं पर फिर भी अनेक मुग्ध रसग्राहियों को उठक-बैठक करा देती है -

सिरि जर-खंडी लोअडी गलि मणियडा न बीस ।  
तो वि गोदठडा कराबिआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥

अंत में, मैं इतना ही कहूँगा कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य की इन संवेदनाओं को, जो आज के जीवन को भी बहुत गहराई तक छूती हैं, छोड़कर कोई भी समाज आगे बढ़ने का दावा

नहीं कर सकता। प्रासंगिकता की कसौटी समाज की प्रगतिशीलता से घनिष्ठता के साथ जुड़ी हुई है, इसमें अपभ्रंश की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

1. दोहाकोश, सरहपाद, संपा. - पं. राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, भूमिका, पृष्ठ 7 ।
2. हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ठ 9 ।
3. वही, पृष्ठ 3 ।
4. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ 16 ।
5. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, आचार्य डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 1 ।
6. द्रष्टव्य - दोहाकोश; पृ. 20, कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 130 ।
7. संदेश-रासक, अब्दुल रहमान, प्रथम प्रक्रम, छंद सं. 8, पृष्ठ 148 ।
8. उपरिवत्, छंद सं. 10, पृष्ठ 148 ।
9. उपरिवत्, छंद सं. 12, पृष्ठ 148 ।
10. उपरिवत्, छंद सं. 13, पृष्ठ 148 ।
11. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 98 ।
12. उपरोक्त ।
13. उपरोक्त ।
14. सिद्धहेम शब्दानुशासन, आचार्य हेमचन्द्र, 340.2 ।
15. उपरिवत्, 395.6 ।
16. उपरिवत्, 364.1 ।
17. उपरिवत्, 343.2 ।
18. हिन्दी काव्यधारा, सम्पा. - पं. राहुल सांकृत्यायन, बब्बर, छंद सं. 196, पृष्ठ 314 ।
19. उपरिवत्, छंद सं. 195, पृष्ठ 314 ।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष  
हिन्दी विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी 221005

## तहिं पुरवरु णामें कणयउरु

लवणणवहिमगिरिमेरमेत्ति  
मगहा णामें जणवउ वरिदु  
पक्केहिं कलमकणिसहिं घणेहिं  
जहिं खेत्तहें पयसंचारु णत्थि  
णग्गोहरोहपारोहएहिं  
जहिं सुंदररूवावेक्खिणीएँ

एत्थु जि विक्खायइ भरहखेत्ति ।  
मणहरु कइकव्वसएहिं दिट्ठु ।  
सुयमुहहयझणझणारवकणेहिं ।  
उववणहिं णिरुज्झइ रविगभत्थि ।  
हिंदोलंती कयसोहएहिं ।  
हालिणि व णिहालिय जक्खिणीएँ

घत्ता - तहिं पुरवरु णामें कणयउरु भूरिकणयकोडिहिं घडिउ ।

अलि कसणहिं पीयहिं पंडुरहिं उप्परि माणिक्कहिं जडिउ ॥ १३ ॥

गायकुमारचरिउ, 1.13

लवण समुद्र और हिमवान् पर्वत से घिरे हुए इसी विख्यात भरत क्षेत्र में मगध नाम का मनोहर व श्रेष्ठ जनपद है जिसका वर्णन कवियों द्वारा सैकड़ों काव्यों में किया गया है। इस प्रदेश में शुकों के मुखों से आहत होने पर झन-झन ध्वनि करनेवाले पके धान की सघन बालों के कारण खेतों में पैर रखने को स्थान नहीं रहता, और उपवन ऐसे घने हैं कि उनमें सूर्य की रश्मियाँ भी प्रवेश नहीं पातीं। यहाँ वटवृक्षों के प्रारोहों से झूलती हुई शोभायमान किसान स्त्रियों के सुन्दर रूप से आकृष्ट होकर मानो यक्षिणी भी एकटक देखती रहती है।

ऐसे मगध जनपद में कनकपुर नामक नगर है जो प्रचुर सुवर्ण के पुंजों से घटित है और उसपर ऊपर से भौरों के समान नीले-पीले और श्वेत माणिक्य जड़े गये हैं ॥ १३ ॥

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

## रासो साहित्य के आधुनिक अध्येता डॉ. विपिनबिहारी त्रिवेदी

- सुश्री मंजु शुक्ल



डॉ. विपिनबिहारी त्रिवेदी आदिकालीन साहित्य, अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषा के नदीष्ण विद्वान थे। उन्होंने महाकवि चंदवरदायी-कृत अपभ्रंश भाषा में निबद्ध 'पृथ्वीराज रासो' जैसे विवादास्पद एवं चुनौतीपूर्ण ग्रंथ पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उक्त विषय पर उन्होंने अपनी मान्यताओं को अत्यन्त विचारोत्तेजक एवं तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। उनके अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता के स्थान पर उसके साहित्यिक सौन्दर्य को उद्घाटित किया।

डॉ. त्रिवेदी की कृतियों में 'चंदवरदायी और उनका काव्य', 'रेवातट समय', 'काव्यविवेचन', 'असनी के हिन्दी कवि', 'विचार और विवेचन', 'अपभ्रंश प्रवेश', 'पृथ्वीराज रासो : एक समीक्षा', 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री', 'प्रिथीराज री कही - एक विश्लेषण', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'साहित्य और समीक्षा', 'आधुनिक हिन्दी काव्य', 'चंदवरदायी का भारत', 'रासो शब्दकोष', 'अपभ्रंश के दो महाकाव्य', 'हिन्दी साहित्य में संगीत', 'हिन्दी साहित्य का

- लेखिका डॉ. त्रिवेदी के साहित्य पर शोधकार्य कर रही हैं। उन्होंने अपने स्नातकोत्तर स्तरीय लघुशोध प्रबन्ध के द्वारा डॉ. त्रिवेदी के साहित्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया। प्रस्तुत लेख में त्रिवेदीजी के रासो सम्बन्धी अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

छंदविधान', 'रस, छंद, अलंकार', 'पृथ्वीराज रासो : महाकाव्य', 'History of Hindi literature, Discriptive Catalogue of Rajasthani Manuscripts : (Part I)' हैं। 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी साहित्य के विवादास्पद ग्रंथों में सर्वप्रमुख है। इसकी प्रामाणिकता तथा स्वरूप के विषय में विद्वान आज भी एकमत नहीं हो पाये हैं। इस ग्रंथ का अनुशीलन पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों ही विद्वानों ने अपने दृष्टिकोणों से किया। इस ग्रंथ के प्रमुख अध्येताओं में कविराज श्यामलदास, विष्णुलाल मोहनलाल पंड्या, राधाकृष्णदास, श्यामसुंदरदास, पं. हरप्रसाद शास्त्री, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुनिराज जिनविजय, डॉ. दशरथ शर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, माताप्रसाद गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जेम्स टॉड, ग्राउज, जॉन बीम्स, डॉ. होर्नले, बूलर, मोरिसन, एल.पी. टेसीटरी, वूलनर, गार्सा द तासी तथा ग्रियर्सन प्रभृति हैं।

इसी परम्परा को आगे विकसित किया डॉ. त्रिवेदी ने। उन्होंने रासो का वैज्ञानिक एवम् मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' के विविध पक्षों, यथा – पृथ्वीराज रासो की भाषा, उसकी लोकप्रियता, धर्म, रामकथा, दशावतार चरित्र, गंगा की महिमा का गान, व्रत, पर्व, त्यौहार, उत्सव, शकुन-अपशकुन, स्वप्न, सती प्रथा, शौर्य वर्णन, हास्य-व्यंग्य, बहुविवाह प्रथा, प्रमुख पात्र, बलभद्र विलास, ज्योनार, छंद विधान प्रभृति को गहनता के साथ प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त कविवर चंदवरदायी के काव्यकौशल का भी वर्णन किया है।

डॉ. त्रिवेदी के 'पृथ्वीराज रासो' सम्बन्धी अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि उन्होंने उसकी ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता, प्रक्षेपों तथा पाठांतरों पर बल न देकर उसके साहित्यिक सौन्दर्य को उद्घाटित किया। इस संबंध में उनका मत है कि – ऐतिहासिक वादविवादों के कोलाहल से दूर 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी साहित्यकारों की अमूल्य विरासत है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक अनूठी रचना है। काव्य-सृजन के दोनों प्रयोजनों – आनन्द तथा कीर्ति की प्राप्ति की दृष्टि से भी यह ग्रंथ सफल है। अलंकारों का उचित प्रयोग, छंदों का सफल नियोजन, कथासूत्रों तथा काव्यरूढ़ियों का सन्निवेश, कथानक तथा अंतःकथानकों का प्रभावी संयोजन, सुललित भावाभिव्यक्ति प्रभृति काव्यात्मक गुणों से समन्वित ग्रंथ है 'पृथ्वीराज रासो'। 'पृथ्वीराज रासो' के काव्यात्मक सौन्दर्य का श्रेय त्रिवेदीजी रासोकार कवि चंद को देते हैं – 'पृथ्वीराज रासो' की भावाभिव्यंजना साधारण पाठक तथा श्रोता को इस प्रकार अग्रसर करती है कि वह मंत्रमुग्ध उस धारा में बहता चला जाता है। उसे यह विचारने का अवसर ही नहीं आता कि इस कथा में पौराणिक तथा अरेबियन नाइट्स के तत्त्व तो समाविष्ट नहीं हो गये हैं। वास्तव में यही रासोकार का काव्यकौशल है जो हमें उनकी प्रशंसा करने हेतु प्रेरित करता है।<sup>2</sup>

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा पर त्रिवेदीजी ने अपने विचारों को मौलिकता के साथ उपस्थित किया है। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा अत्यंत विलक्षण है। यद्यपि इसमें नियम हैं तथापि किसी का अक्षरशः पालन नहीं मिलता है। अधिकांश शब्दों तथा व्यंजनों के स्वरूप में स्वछंदता है परन्तु तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार इसमें परिवर्तन हो जाता है तथा उनके संस्कृत, पालि,

प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी, अपभ्रंश और हिन्दी रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह अनूठी शैली इस ग्रंथ में आद्योपांत दृष्टिगत होती है। स्वरों तथा व्यंजनों के परिवर्तन से संबंधित कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

स्वर - नारि, नारी, नारिय।  
 अकास, आकास, आयास।  
 रिष, रिषि, रिषी, रिष्य, ऋषि।  
 सैल, सयल, सइल, सेलह, शेल।

व्यंजन - पहुकर, पोखर।  
 अग्नी, अगनि, आगि, आग।  
 सिव, शिव, सिभ।  
 अदम्भुत, अदब्बुद।

‘पृथ्वीराजरासो’ की भाषा का अध्ययन करने में अनेक समस्याएँ आती हैं क्योंकि इसमें वैदिक, संस्कृत, पालि, पैशाची, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि द्वितीय स्तर की प्राकृतों, अपभ्रंश, देश्य, प्राचीन राजस्थानी, प्राचीन गुजराती, पंजाबी, ब्रज प्रभृति भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी तथा तुर्की के अनेक शब्दों का संयोग मिलता है। त्रिवेदीजी के अनुसार उक्त महाकाव्य में पंजाबी भाषा के शब्दों का सीमित प्रयोग मिलता है तथा अरबी, फारसी तथा तुर्की भाषा के शब्दों की संख्या लगभग 500 है। त्रिवेदीजी के मत में इन शब्दों का प्रयोग तत्सम् रूप में कम तथा अपनी आवश्यकतानुसार यथारूप देकर अधिक किया गया है। इस ग्रंथ की भाषा की दुरूहता को बढ़ाने में सर्वाधिक सहायक देश्य शब्द हैं जो इसमें प्रयुक्त हुए हैं। त्रिवेदीजी ने पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के शब्दों के संक्षेप में उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं -

देश्य शब्द - जूका, बागुर, कुटवार, पोगर, बिलहान, बालर, रमून, पोल, ठोठ, ढीमर, बजूआ, इचना प्रभृति।

पंजाबी भाषा के शब्द - रहंदी, हनंदे, सुहंदी, परछी, कूंकटा, आवंदा, कनवज्जां, उपन्ना, जन्ना, धन्ना, हंसाइया, पाइयां इत्यादि।

अरबी, फारसी तथा तुर्की के शब्द - इनमें अधिकांशतः अरबी, फारसी के हैं, - कुछ तुर्की के हैं, यथा - हमीर ( अमीर ), हज्जार, सहर, आबादि, अकलि, महल, आतस्स, सिकार, वज्जीर, गस्त, मस्साल, मुकाम, कुदरति इत्यादि।

‘पृथ्वीराज रासो’ के भाषा संबंधी अध्ययन में डॉ. त्रिवेदी ने अनेक अन्य तथ्यों को भी नवीनता के साथ उद्घाटित किया है। यथा - रेफ का पूर्ण वर्ण में संयुक्त होना तथा रेफवाले वर्ण का दूना होना, रेफ का लोप तथा रेफवाले वर्ण का द्वित्व होना, आधे र का पूर्ण वर्ण होना, य के स्थान पर ज, क्ष के स्थान पर ख, ण के स्थान पर न, ज्ञ के स्थान पर ग्य या ग, ग के

स्थान पर य, स के स्थान पर छ, श के स्थान पर स का होना, प्रभृति। डॉ. त्रिवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा को एक दुर्भेद्य दीवार माना है जो आज भी उसके वास्तविक अर्थ की तह तक पहुँचने में बाधक है। परन्तु इन सभी अनैतिहासिकताओं, प्रक्षेपों तथा पाठांतरों के उपरांत भी 'पृथ्वीराज रासो' इतना लोकप्रिय क्यों है? इसका उत्तर त्रिवेदीजी अत्यन्त सटीक उदाहरण देकर व्याख्यायित करते हैं - अनैतिहासिक कूड़े-करकट के ढेर से आवृत्त 'पृथ्वीराजरासो' साहित्य-मनीषियों को उसी प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करता है जिस प्रकार सिर पर जर्जरित लोम-पुटी डाले और गले में बीस मनकों की माला से रहित मुग्धा (के सौन्दर्य) ने गोष्ठ-स्थित (रसिकों) में उठा-बैठी करवा दी थी -

सिर जर-खण्डी लोअड़ी गलि मणियड़ा न बीस ।  
तो वि गोठ्ठडा कराविआ मुद्धएं उट्ठ बईस ॥

- हेमशब्दानुशासनम्, 424-4

और जिस प्रकार (पति के हृदय में) नववधू के दर्शनों की लालसा लगाये अनेक मनोरथ हुआ करते हैं -

नव-वहु-दंसण-लालसउ बहइ मणोरह सोइ ।

- हेमशब्दानुशासनम्, 401-1

लगभग उसी प्रकार साहित्यकार भी रासो के रहस्य के प्रति उत्सुक और जिज्ञासु हैं।

डॉ. त्रिवेदी ने इसकी लोकप्रियता के अन्य महत्त्वपूर्ण कारणों को भी स्पष्ट किया है। पृथ्वीराज का चरित्र अत्यन्त स्पष्टता के साथ उजागर किया गया है। नायक के उत्कर्ष हेतुओं के साथ ही उसके अपकर्ष हेतुओं को भी उल्लिखित किया है जिससे काव्यग्रंथ की प्रभविष्णुता में वृद्धि होती है साथ ही स्वाभाविकता भी आती है। चंदवरदायी की अद्भुत वर्णना शक्ति भी इसकी लोकप्रियता का सशक्त कारण है। तद्युगीन मांग के अनुरूप एक दरबारी कवि के सारे गुण कवि चंद में थे तथा इसी शक्ति के फलस्वरूप ही उसने जनमानस के समक्ष एक ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत किया जिसके प्रति आदिकाल से लेकर आधुनिक युग तक लोकोत्तर आकर्षण अक्षुण्ण बना हुआ है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि डॉ. त्रिवेदी का रासो संबंधी अध्ययन मौलिक, वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण तथा विचारोत्तेजक है। उन्होंने एक नये सिरे से रासो के विविध पक्षों को उद्घाटित किया जो वास्तव में एक स्तुत्य प्रयास है। 'पृथ्वीराज रासो' सम्बन्धी उनके अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने उसकी ऐतिहासिकता के स्थान पर उसके साहित्यिक सौन्दर्य को उद्घाटित किया है। इसकी ऐतिहासिकता के संबंध में भी उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं, उनका मत है कि 'पृथ्वीराजरासो' में ऐतिहासिक तथ्यों की तुलना में अनैतिहासिक तत्त्व नाममात्र के हैं। 'पृथ्वीराजरासो' की ऐतिहासिकता के संबंध में उनका दृष्टिकोण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से समानता रखता है। 'पृथ्वीराजरासो' का वैज्ञानिक पाठानुसंधान करके उसके सही स्वरूप को निर्धारित करने हेतु उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण योजना

बनाई थी जिसके लिए उन्हें बिड़ला परिवार से अनुदान भी मिला था परन्तु उनके असामयिक एवं दुःखद निधन से यह महत्त्वपूर्ण कार्य अपूर्ण रह गया। वास्तव में इसी प्रकार के योजनाबद्ध वैज्ञानिक कार्य की अतीव आवश्यकता है जिससे हिन्दी साहित्य के तथाकथित विवादास्पद ग्रंथों का निष्पक्ष मूल्यांकन हो सके। डॉ. त्रिवेदी की अभी समस्त कृतियां प्रकाशित नहीं हुई हैं परन्तु उनका जितना भी प्रकाशित तथा अप्रकाशित साहित्य है वह महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य में अपनी वैज्ञानिक मान्यताओं तथा गंभीर एवम् विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापन हेतु डॉ. त्रिवेदी सदैव स्मरणीय रहेंगे।

- 
1. विचार और विवेचन, डॉ. विपिनबिहारी त्रिवेदी, पृ. 56, पारुल प्रकाशन, लखनऊ ।
  2. चंद्रभानु गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ, प्रधान संपादक - डॉ. दीनदयालु गुप्त, पृ. 272 ।

शोधार्थी  
हिन्दी विभाग,  
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

---

## जोयड़ व कमलसरलोयणेहिं

जोयड़ व कमलसरलोयणेहिं  
 ल्हक्कड़ व ललियवल्लीहरेहिं  
 वणियउ व विसमवम्महसरेहिं  
 परिहड़ व सपरिहाघरियणीरु  
 णं घरसिहरग्गहिं सग्गु छिवड़  
 कुंकुमछडए णं रड़हि रंगु  
 विरड़यमोत्तियरंगावलीहिं  
 चिंधेहिं धरिय णं पंचवण्णु

णच्चड़ व पवणहल्लियवणेहिं ।  
 उल्लसड़ व बहुजिणवरहरेहिं ।  
 कणड़ व रयपारावयसरेहिं ।  
 पंगुरड़ व सियपायारचीरु ।  
 णं चंदअमियधाराउ पियड़ ।  
 णावड़ दक्खालिय-सुहपसंगु ।  
 जं भूसिउ णं हारावलीहिं ।  
 चउवण्णजणेण वि अड़रवण्णु ।

गायकुमारचरिउ, 1.7

- वह नगर मानो कमल-सरोवररूपी नेत्रों से देखता था, पवन द्वारा हिलाये हुए वनों के रूप में नाच रहा था तथा ललित लतागृहों के द्वारा मानो लुका-छिपी खेलता था। अनेक जिन-मन्दिरों द्वारा मानो उल्लसित हो रहा था। कामदेव के विषम बाणों से घायल होकर मानो अनुरक्त परेवों के स्वर से चीख रहा था। अपनी परिखा में भरे हुए जल के द्वारा मानो परिधान धारण किये था। तथा अपने श्वेत प्राकाररूपी चीर को ओढ़े था। वह अपने गृहशिखरों की चोटियों द्वारा स्वर्ग को छू रहा था और मानो चन्द्र की अमृतधाराओं को पी रहा था। कुंकुम की छटाओं से जान पड़ता था जैसे वह रति की रंगभूमि हो, और मानो वहाँ के सुख प्रसंगों को दिखला रहा हो। वहाँ जो मोतियों की रंगावलियाँ रची गयी थीं उनसे प्रतीत होता था जैसे मानो वह हार-पंक्तियों से विभूषित हो। वह अपनी उठी हुई ध्वजाओं से पचरंगा और चारों वर्णों के लोगों से अत्यन्त रमणीक हो रहा था।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

## जोइन्दु की कृतियों में बहिरात्मा का स्वरूप और सन्देश

- डॉ. ( कु. ) आराधना जैन 'स्वतंत्र'



अध्यात्मवेत्ता कवि मनीषी जोइन्दु अपभ्रंश साहित्य के कुन्दकुन्द माने जाते हैं। वे एक आत्मसाधक योगी थे। उन्होंने जीवनभर आत्मारधना की और आत्मा को ही अपनी रचनाओं का केन्द्र-बिन्दु बनाकर अध्यात्म-क्षेत्र को नया आयाम दिया। निर्विवाद रूप से उनकी दो रचनाएं मानी जाती हैं - परमप्पयासु (परमात्म-प्रकाश) और जोगसारु (योगसार)। दोनों कृतियों में कवि ने आत्मा के वास्तविक रहस्य को समझाकर परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त किया है।

जोइन्दु ने अपनी कृतियों में विविध दृष्टिकोणों से आत्मा के स्वरूप को समझाने का सफल प्रयास किया है। निश्चयनय से आत्मा शुद्ध-बुद्ध, ज्ञानदर्शन-स्वभावी, सचेतन, रंगहीन, गंधहीन, शब्दहीन, इन्द्रियों के अगोचर, क्रोध-मान-मोह आदि से रहित निराकार आदि विशेषताओं से समन्वित है।<sup>1</sup> इसे ही शिव, शंकर, बुद्ध, रुद्र, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा, सिद्ध आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।<sup>2</sup> व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा कर्ता, भोक्ता, शरीरप्रमाण है।<sup>3</sup> योगसार में अवस्था की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद बताये गये हैं -

तिपयारो अप्पा मुणहि परु अतरु बहिरप्पु ।

पर जायहि अंतर-सहिउ वाहिरु चयहि णिभंतु ॥ 6 ॥

- आत्मा के तीन प्रकार हैं - परमात्मा, अंतरात्मा और बहिरात्मा। (तू) निःसन्देह होकर बहिरात्मा को छोड़ और अंतरात्मा के साथ-साथ परमात्मा को प्राप्त कर।

परमात्म-प्रकाश में भी आत्मा के तीन भेदों का उल्लेख मिलता है -

**मूढ वियक्खणु वंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ ॥ 1.13 ॥**

आत्मा तीन प्रकार की होती है - 1. मूढ-मूर्च्छित आत्मा, 2. वियक्खण-जागृत आत्मा और 3. परमात्मा।

यहाँ मूढ-मूर्च्छित और बहिरात्मा एकार्थवाची हैं तथा वियक्खण-जागृत और अंतरात्मा एकार्थवाची हैं, मात्र नाम-भेद है। ये नाम जीव की मान्यता पर आधारित हैं। जो शरीर आदि पर-पदार्थों को अपना मानता है वह बहिरात्मा है। शरीर और आत्मा को पृथक माननेवाला अंतरात्मा है। परमात्मा आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था है। बहिरात्मा ही भेदविज्ञान करके अंतरात्मा बनता है फिर निरन्तर आत्म-साधना द्वारा परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया व साधना के निरूपण हेतु ही ग्रन्थकार ने बहिरात्मा आदि भेद कर उसकी विस्तृत विवेचना की है तथा जन-सामान्य के लिए सरल और उदार ढंग से जीवनमुक्ति का सन्देश दिया है।

संसारी प्राणी जन्म से ही शरीर, इन्द्रिय और मन से तादात्म्य (एकीकरण) स्थापित कर लेता है। शरीर से संबंधित चेतन-अचेतन पदार्थों में भी उसकी अहं बुद्धि, ममत्व बुद्धि होती है। मनुष्य द्वारा एकीकरण स्थापित करने का उद्देश्य होता है - विभिन्न प्रकार की इच्छाओं को तृप्त करना। सामान्यतया वह नई-नई इच्छाओं की तृप्ति करता रहता है और इसीप्रकार जीवन का अभ्यस्त हो जाता है। वह मानसिक तनाव में जीता है और कष्टों को झेलता चलता है। मानसिक तनाव स्वयं कष्टपूर्ण होता है और दूसरे प्रकार के कष्टों का प्रतिफल भी होता है। सारे दुःखों की परिणति मानसिक ही होती है। मानसिक तनाव व्यक्ति की जीवनचर्या के अंग बन जाते हैं। मानसिक तनाव का मूल कारण शरीर आदि पर-पदार्थों से तादात्म्य करना ही है। पर-पदार्थों से तादात्म्य करनेवाला आत्महित भूलकर मूर्च्छित बना रहता है इसीलिए वह बहिरात्मा या मूर्च्छित आत्मा कहलाता है।

परमात्मप्रकाश में कहा है -

**देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥ 1.13 ॥**

- देह को आत्मा माननेवाला व्यक्ति मूढ/मूर्च्छित या बहिरात्मा होता है।

योगसार में कहा है -

**मिच्छादंसण-मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ ।**

**सो बहिरप्पा जिण-भणियउ पुण संसार भमेइ ॥ 7 ॥**

- मूर्च्छा के द्वारा मूढ बना हुआ व्यक्ति परम आत्मा को नहीं जानता है। वह जितेन्द्रियों द्वारा बहिरात्मा कहा गया है वह निश्चय ही संसार में चक्कर काटता है।

### बहिरात्मा की धारणा

देह आदि परपदार्थों से एकीकरण करनेवाला बहिरात्मा शरीर के वर्ण, आकृति को ही अपनी मानता है। वह सोचता है - मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं विभिन्न/चितकबरा रंगवाला हूँ, मैं कृश शरीरवाला हूँ, मैं स्थूल शरीरवाला हूँ। मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य (वणिक्) हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, स्त्री हूँ। मैं जवान हूँ, वृद्ध हूँ, रूपवान हूँ, शूरवीर हूँ, पंडित हूँ, श्रेष्ठ हूँ, इत्यादि शरीर-भेदों को मूढ़ अपने मानता है। मूर्च्छित व्यक्ति जननी, जनक, स्त्री, घर, पुत्र, मित्र, कुटुम्बीजन अन्य चेतन-अचेतन द्रव्यों जो मायाजाल हैं/असत्य हैं, को अपना मानता है। इतना ही नहीं, दुःख के कारण पंचेन्द्रिय विषयों को सुख का कारण जानकर रमण करता है, इसके लिए परमात्मप्रकाश में कवि ने कहा है -

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।  
हउँ तणु अँगउँ थूलु हउँ एहउ मूढउ मण्णु ॥ 80 ॥  
हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।  
पुरिसु णउँसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥ 81 ॥  
तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।  
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ 82 ॥  
जणणी जणणु वि कंत घरु पत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।  
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ 83 ॥  
दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।  
मिच्छाइटिठउ जीवडउ इत्थु ण काइं करेइ ॥ 84 ॥

### बहिरात्मा की धारणा का परिणाम

बहिरात्मा अपनी विपरीत मान्यता के कारण आत्माधीन सुख को तो नहीं समझता है और जहाँ सुख नहीं है ऐसे पर-पदार्थों से सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है। अतः वह सुख से वंचित रहकर संसार में/मानसिक तनाव में चक्कर काटता है। आत्मज्ञान न होने से उसे सुख-शांति उसी प्रकार नहीं मिलती जैसे बहुत विलोडन किये हुए पानी के द्वारा भी हाथ चिकना नहीं होता -

णाण-विहीणहँ मोक्ख पउ जीव म कासु वि जोइ ।  
बहुएँ सलिल-विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥ प. प्र. 2.74

कविवर जोइन्दु ने बहिरात्मा को संसार की भटकन/मानसिक तनाव से मुक्त होने का उपदेश दिया है। इसमें उन्होंने भेद-विज्ञान, पर-पदार्थों में आसक्ति के परिहार, संसार की असारता, इन्द्रिय, मन के नियंत्रण, चित्त शुद्धि, परमात्मा के ध्यान आदि पर विशेष बल दिया है और अपने कथ्य को विभिन्न दृष्टान्त, मुहावरे, लोकोक्ति, सूक्तियों के द्वारा स्पष्ट किया है। उन्हें ही यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

## भेद-विज्ञान

बहिरात्मा शरीर और उसमें स्थित आत्मा को पृथक्-पृथक् न जानकर एक मानता है, परिणामस्वरूप वह प्रतिसमय परिवर्तित क्षणभंगुर शरीर के ही संवर्धन-पोषण में इतना व्यस्त हो जाता है कि आत्मा की सुध ही नहीं रहती। शरीर के नष्ट होने को वह अपना नाश मानकर दुःखी होता है। ग्रन्थकार का कहना है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। जीव-आत्मा तथा अजीव अनात्मा-शरीर है। इनमें लक्षण-भेद से पूर्ण भेद है। हे मनुष्य! तू अभेदरूप आत्मा को जान<sup>5</sup>, जो इससे अन्य है, वह अन्य ही है, ऐसा मैं कहता हूँ। आत्मा मनरहित, इन्द्रिय-समूह से रहित, मूर्तिरहित, ज्ञानमय और चेतना स्वरूप है, यह इन्द्रियों का विषय नहीं है।<sup>6</sup> आत्मा आत्मा ही होता है, पर पर ही होता है। आत्मा कभी पर नहीं होता और पर कभी आत्मा नहीं होता।<sup>7</sup> देहों के जन्म, बुढ़ापा और मरण होते हैं। देहों के ही नाना प्रकार के रंग होते हैं। देहों के रोग होते हैं और देहों के ही कई लिंग भी होते हैं।<sup>8</sup> इसप्रकार कवि ने देह और आत्मा की भिन्नता का विश्लेषण करके मनुष्य को निर्भय और निःशंक बनाने का सफल प्रयास किया है -

देहहँ पेक्खवि जर मरणु मा भउ जीव करेहि ।

जो अजरामरु वंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥ 1.7 ॥

- हे जीव! देहों के बुढ़ापे और मृत्यु को देखकर (तू मन में) डर मत रख। (देह में रहनेवाला) आत्मा बुढ़ापेरहित और मृत्युरहित परम ब्रह्म है, ऐसा तू जान।

आत्मा और अनात्म पदार्थों में भिन्नता का बोध होने पर प्राणी पर की हानि को अपनी हानि नहीं मानता जिससे इष्ट-वियोग विषयक कष्ट नहीं होता। वह निर्भय बन जाता है।

## संसार की असारता

संसार अनित्य, अस्थिर और क्षणभंगुर है। संकल्प (ममत्व) और विकल्प (हर्ष-विषाद) रूप परिणाम (प. प्र. 1.16 टीका) और राग-द्वेष कर्मबंध का कारण है (प. प्र. 2.79), यह जानता हुआ भी जीव अविद्या के कारण पर-पदार्थों में स्वत्व की भावना कर लेता है। आत्मानुभूति की इच्छा से विमुख होकर आठ मद, आठ मल, छह अनायतन व तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों में मग्न हो जाता है। इससे परम तत्व की उपलब्धि धूमिल हो जाती है। अतः मुमुक्षु साधक का कर्तव्य है कि वह संसार की क्षणभंगुरता को समझे/स्वीकार करे।<sup>9</sup> परमात्मप्रकाश में जोइन्दु ने साधक को अत्यन्त प्रभावोत्पादक रीति से संसार की असारता, इन्द्रिय-विषय-सुखों की क्षणभंगुरता का बोध कराया है -

जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।

जी वि जंति कुडि णं गय इहु पडिछंदा जोइ ॥ 2.129 ॥

विसय सुहइं वे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।

भुल्लउ जीव म वाहि तुहँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥ वही 2.138 ॥

जे दिट्ठा सुरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।

तँ कारणिँ वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ 2.132 ॥

ए पंचिदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।

चरिवि असेसु वि विसय वणु पुणु पाडहिँ संसारि ॥ 2.136 ॥

- हे साधक यहाँ प्रत्येक ही वस्तु कृत्रिम (नाशवान) है। यहाँ कोई भी वस्तु अकृत्रिम (अविनाशी) नहीं है। देखो, इस लोक को छोड़कर जाते हुए (अविनाशी) जीव के साथ (विनाशी) शरीर कभी नहीं गया। इस उदाहरण को (तू) समझ। इन्द्रिय विषयों के सुख दो दिन तक ही रहते हैं। फिर दुःखों का क्रम (प्रारम्भ हो जाता है)। हे भोले जीव! तू (इन्द्रिय विषयों में ही रमकर) निज के कंधे पर कुल्हाड़ी मत चला। हे अज्ञानी! जो (अवस्थाएं) सूर्य के उदय होने पर देखी गई हैं वे सूर्य के अस्त होने पर नहीं देखी गईं। इस कारण से (तू) धर्म (आध्यात्मिक साधना) कर, धन और यौवन से क्यों संतुष्ट हुआ है? हे जीव! इन स्वच्छन्द पंचेन्द्रियरूपी ऊँटों को मत चरा। क्योंकि (ये) सम्पूर्ण विषयरूपी वन को चरकर (व्यक्ति को) फिर संसार में पटक देते हैं।

इसप्रकार कवि ने संसार की असारता और विषय-सुखों की क्षणभंगुरता का दिग्दर्शन कराया है। पर पदार्थों की क्षणिकता का भान होने पर व्यक्ति को इनके वियोग का कष्ट नहीं होता।

**आसक्ति का परिहार**

पर-पदार्थों के प्रति आकर्षण होना ही आसक्ति/रागभाव है। रागभाव से ही कर्म-बन्ध होता है। कर्म-बन्ध ही सांसारिक सुख-दुःख उत्पन्न करते हैं। सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के लिए कर्म के बंध को तोड़ना आवश्यक है। यह कर्म-बन्ध आसक्ति का परिहार करने पर ही टूट सकता है अतः जोइन्दु ने (परमात्म प्रकाश में) व्यक्ति को आसक्ति के दुष्परिणामों से अवगत कराया है फिर आसक्ति छोड़ने की प्रेरणा दी है -

रूवि पर्यंगा सहि मय गय फासहिँ णासंति ।

अलिउल गंधइं मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥ 2.112 ॥

- रूप के कारण पतंगे, शब्द के कारण हरिण, स्पर्श के कारण हाथी, गंध के कारण भौरें तथा रस के कारण मछलियाँ, ये सब विभिन्न इन्द्रियों में आसक्ति के कारण नष्ट हो जाते हैं। (फिर भी समझ में नहीं आता कि व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों के विषयों में) आसक्ति क्यों करते हैं? आसक्ति में लीन मनुष्य दुःखों को सहता हुआ जीता है आसक्ति अच्छी नहीं होती। इस बात को समझकर आसक्ति छोड़। जहाँ आसक्ति (रूपी अंधकार) बढ़ती है वहाँ स्वबोध (रूपी सूर्य की किरणें) बिल्कुल ही नहीं होता है।<sup>10</sup> इसी प्रकार कवि ने आसक्ति का प्रभाव दिखलाते हुए स्पष्ट किया है कि जैसे मैले दर्पण में प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार आसक्ति में रंगे हुए हृदय में समतावान हुआ दिव्य आत्मा देखा नहीं जाता। यह बात संदेहरहित है -

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।

दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥ प. प्र. 1.120 ॥

इस जगत में जब तक जीव मन में स्थित अणुमात्र भी आसक्ति को नहीं छोड़ता है तब तक वह परमार्थ (परम प्रयोजन/आत्मा) को समझता हुआ भी (मानसिक तनाव से) छुटकारा नहीं

पाता है।<sup>11</sup> अपने कर्मफल को भोगते हुए भी जो उसमें आसक्ति नहीं करता है वह कर्म-बंध नहीं करता जिससे पूर्वसंचित कर्म-समूह नष्ट हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि दुःखों से मुक्ति के लिए आसक्ति का परिहार आवश्यक है।

### चित्त शुद्धि

जोइन्दु ने अपने ग्रन्थों में चित्त-शुद्धि को प्रमुखता दी है। उनका कथन है - स्वबोध के अभाव में बाह्य क्रियाएँ जैसे - व्रत, तप, संयम तीर्थ-भ्रमण आदि सभी निरर्थक हैं<sup>12</sup> अर्थात् मोक्ष का कारण नहीं बन पाती। यदि मन शुद्ध नहीं है तो पढ़ने से धर्म नहीं होता, पुस्तक-पिच्छी से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता और न ही केश-लुंचन से धर्म होता है -

धम्मू ण पढियइं होइ धम्मू ण पोत्था पिच्छियइं ।

धम्मू ण मढिय-पएसि धम्मू ण मत्था-लुंचियइं ॥ यो. सा. 47 ॥

यहाँ धार्मिक क्रियाओं का निषेध करना कवि का लक्ष्य नहीं है। उनका उद्देश्य तो मात्र चित्त-शुद्धि का है। ये क्रियाएँ चित्त-शुद्धि में सहायक हैं पर यदि इनसे मन निर्मल नहीं होता तो निरर्थक मानी जाती हैं। अतः चित्त-शुद्धि पर बल दिया है। (परमात्मप्रकाश में) उनका कथन है -

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि ।

केम्बइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥ 2.70 ॥

- हे जीव, (तू) जहाँ चाहे वहाँ जा, जो (तुझे) अच्छा लगे उसको ही कर किन्तु जब चित्त की ही शुद्धि नहीं है (तो) किसी तरह भी परम शान्ति संभव नहीं है।

चित्त-शुद्धि के लिए क्रोधादि कषायों का त्याग करना, राग-द्वेष का परिहार कर समदृष्टि बनाना, इन्द्रिय और मन को नियंत्रित/संयमित रखना एवं परमात्मा का ध्यान आवश्यक है।

### कषायों का परित्याग

क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें हैं जो निरन्तर आत्मा को कसती रहती हैं, जिससे प्राणी दुःखी होता है। कषायों के परिणाम-स्वरूप उसका चित्त निर्मल नहीं हो पाता। एतदर्थ जोइन्दु ने कषायों को छोड़ने का निर्देश दिया।<sup>13</sup> वे कहते हैं - जिस मोह से कषायें उत्पन्न होती हैं उस मोह को तू छोड़ क्योंकि मोह और कषायों से रहित जीव ही समभाव पाता है -

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लिहो मोहु ।

मोह-कसाय-विवज्जिउ पर पावहि सम बोहु ॥ प. प्र. 2.42 ॥

### संयम

पंचेन्द्रिय के विषयों में रत मन विषयों को सुख का कारण समझकर उनमें रमण करता है और आकुलित ही बना रहता है। आकुलता को दूर करने का एकमात्र उपाय है - संयम। पंचेन्द्रिय के नायक मन को वश में करने पर सभी इन्द्रियाँ इस प्रकार वश में हो जाती हैं जैसे मूल के समाप्त होने पर वृक्ष के पत्ते निश्चितरूप से सूख जाते हैं -

पंचहं णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण ।

मूल विणट्ठइ तरुवरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥ प. प्र. 2.140 ॥

मन और पंचेन्द्रियों को नियंत्रित करने से आर्त्त-रौद्र ध्यान नहीं होता और प्राणी के आकुल-व्याकुल परिणाम नहीं होते। संतुष्ट भावों से शांति मिलती है।

**सम्यग्दृष्टि बनें**

अनुकूलता और प्रतिकूलता में समता भाव होना ही समदृष्टि है। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं - जो रागभाव में रीझता नहीं है तथा द्वेषभाव में खीजता नहीं है वह समतावान/समदृष्टि है। इसे ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जो राग और द्वेष को छोड़कर जीवों को समान देखते हैं वे राग-द्वेष-रहित भाव में स्थित हुए हैं। इसलिए वे शीघ्र ही परम शान्ति प्राप्त करते हैं -

राय-दोस बे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।

ते समभावि परिट्ठया लहु णिव्वाणु लहंति ॥ प. प्र. 2.100 ॥

राग-द्वेष-परिणामों को छोड़कर निज आत्मा में वास करना ही धर्म है। यह धर्म ही पंचम गति अर्थात् मोक्ष ले जाता है -

राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि बसेइ ।

सो धम्मू वि जिण-उत्तियउ जो पंचमगइ णेइ ॥ यो. सा. 48 ॥

समता भाव आत्मज्ञानी के ही होता है। आत्मज्ञानी ही समत्वभाव से परम शान्ति/सुख को प्राप्त करता है।

**परमात्मा का ध्यान**

दुःख निवृत्ति के लिए आसक्ति-परिहार, चित्त-शुद्धि, इन्द्रिय और मन को संयम के साथ ध्यान आवश्यक है। ध्यान से ही साधना पूर्ण होती है। परमात्मप्रकाशकार ने अपने कथन की पुष्टि दृष्टान्तों द्वारा की है -

भव-तणु-भोय-विरत्तमणु जो अप्पा झाएइ ।

तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥ 1.32 ॥

- जो व्यक्ति संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर (परम) आत्मा का ध्यान करता है उसकी संसाररूपी/मानसिक तनावरूपी घनी बेल नष्ट हो जाती है।

परमात्मा का ध्यान करते समय ऐसी ऊर्जा निकलती है जिससे कर्मों का क्षय उसी प्रकार हो जाता है जैसे अग्नि की ऊर्जा लकड़ी के ढेर को जलाकर नष्ट कर देती है।<sup>14</sup>

इसलिए कविवर जोइन्दु का कथन है -

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएं अण्णेण ।

जो झायंतहं परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥ प. प्र. 1.97 ॥

गिहि-वावार-परिट्ठया हेयाहेउ मुणंति ।

अणुदिणु झायहिं देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥ यो. सा. 18 ॥

– निर्मल आत्मा का ध्यान करो। दूसरी बहुत बात से क्या लाभ? ध्यान करते हुए व्यक्तियों के द्वारा परम पद एक क्षण में ही प्राप्त कर लिया जाता है। जो गृहस्थ के कार्यों में लगे हुए भी हेय और उपादेय समझते हैं तथा प्रतिदिन जितेन्द्रिय दिव्य आत्मा का ध्यान करते हैं वे शीघ्र ही परम शांति प्राप्त करते हैं।

मोक्ष पुरुषार्थ से अनुप्राणित जोइन्दु की कृतियों का कथ्य आत्मोद्धारक है। इनमें आत्मा के विभिन्न रूपों की विवेचना है। बहिरात्मा को अन्तरात्मा/आत्मज्ञानी बनने का सन्देश दिया गया है।<sup>15</sup> अन्तरात्मा ही साधना के योग्य होता है। वही साधना के द्वारा राग-द्वेष का परिहार कर समदृष्टि बन जाता है अर्थात् वह न तो राग में रीझता है और न ही द्वेष में खीजता है वरन् समभाव में सीझता है। यही अंतरात्मा अपने पुरुषार्थ/साधना से परमात्म-पद/अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है।

- 
1. परमात्मप्रकाश, जोइन्दु, 1.17-20, परम श्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1973 ।
  2. योगसार, जोइन्दु, 26, 57, 105।
  3. परमात्मप्रकाश, 1.40, 50-55।
  4. परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका, डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, नवम्बर 88, प्रस्तावना, पृष्ठ 11।
  5. परमात्मप्रकाश, 1.30।
  6. वही, 1.31।
  7. वही, 1.67।
  8. वही, 1.70।
  9. जैनविद्या, अंक-9, नवम्बर-88, जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, पृष्ठ - 51।
  10. परमात्मप्रकाश, 2.76।
  11. वही, 2.81।
  12. वही, 2.82-84।
  13. वही, 2.113।
  14. वही, 1.114।
  15. वही, 1.12; योगसार, 8।

मील रोड

गंजबासौदा-464221

## On Early Apabhraṃṣa

– Harivallabh C. Bhayani

1. By the Seventh century A.D., Apabhraṃṣa was established as a language of literature besides Sanskrit, Prakrit, and *Paisācī* (*Bhāmaha*, *Dandin*). The grammatical tradition as represented by Hemacandra's treatment of Apabhraṃṣa takes it to be *one language* like Sanskrit and Prakrit (Prakrit in the sense of Mahārāṣṭrī). The occasional observations of grammarians such as Namisādhu and Bhoja about the *varieties* of Apabhraṃṣa relate to its use, with a touch of some regional dialects and occurring in some minor compositions, as a piece of novelty. This is illustrated in Namisādhu's commentary on Rudraṭa's *Kāvyaḷaṃkāra* (II 11-12) and in Bhoja's *Śṛṅgāraprakāśa* (pp. 102-103).

From the linguistic point of view, however, the language of the earlier period of Apabhraṃṣa (6th to 12th centuries A.D.) was standardized but not yet uniform, open as it was to the continuous impact of regional spoken dialects, besides the influence of Sanskrit and Prakrit. Grammarians have also taken note of some varying features of Apabhraṃṣa. As the Apabhraṃṣa works of the first two centuries are all lost and since the manuscripts of the earliest

preserved works are much later than the works themselves (and, consequently, modernized considerably in orthography and grammar), we have to rely on a few scattered remnants as clues to get a glimpse of the form of the language as used in the earliest stratum of Apabhraṃśa literature.

2. In his treatment of Apabhraṃśa, Hemacandra has provided for the following –

1. change of intervocalic *k*, *kh*, *t*, *th*, *p*, and *ph* respectively to *g*, *gh*, *d*, *dh*, *v*, and *bh* which were otherwise as a rule elided (non-aspirates) or changed to *h* (aspirates), refer to Siddhahemacandra (8-4-396);
2. optional preservation of *r* in clusters with *r* as the latter member (8-4-398);
3. change of Skt. *brū* to *bruv* or *bro* - (8-4-391).

Besides, in a general way, Hemacandra has said many a time that the changes are the same (or generally the same) as in Śaurasenī, which evidently relates to the features noted under 8-4-396 (refer to 8-4-260, 267, 274, 275, 422, 446). These rules have been appropriately illustrated in the commentary.

3. We now find near-total absence of the first and the third of the above-mentioned features in the vast majority of the illustrations cited by Hemacandra, and in the whole of Apabhraṃśa literature known to us. The second feature is also found but rarely. It is nevertheless somewhat more common than the other two which seem to be quite exceptional<sup>1</sup>. In this connection we may note a few remarkable facts.

In order to illustrate 8-4-446, Hemacandra has cited the following verse<sup>2</sup>.

**sīsi seharu khaṇu viṇimmaividu**

**khaṇu kaṃṭhi pālaṃbu kidu, radie vihidu khaṇu muṃḍa-mālie |**

**jaṃ paṇaṇa taṃ ṇamahu, kusuma-dāma-koyaṃḍu kāmaho ||**

Herein we find forms with -d- derived from original -t-. The metre is 'Mātra' (SC. IV 8 ff. and CH. V 17 ff) which has 15+12+15 +12+15 Mātrās in its consecutive five Carāṇas.

1. R. PISCHEL has noted cases of preservation of *r* in Hemacandra's illustrations (under §§ 28 and 268), as well as cases of -t- > -d- etc. (under the relevant section).
2. This verse also occurs in ŚP. (p. 309). See 'Prakrit Verses in Works on Sanskrit Poetics', Pt. I, Appendix, p. 13, no. 24. — Refer for the two Mātrās << sīsi seharu >> and << ekkam ekkau >> as discussed in (3) and (4) to L. ALSDORF *Apabhraṃśa-Studien*, Leipzig 1937, pp. 106-07 and pp. 55-56. ALSDORF'S discussion does not affect the points mentioned by DR. BHAYANI. THE EDITORS.

4. The verse cited under 8-4-422 to illustrate substitution in Apabhraṃsa of *drehi* for *Skt. dr̥ṣṭi* is as follows -

**ekkam ekkau jāi-vi joedi  
hari suṭṭhu savvāyareṇa, to-vi drehi jahim kahim vi rāhī |  
ko sakkai samvarevi, dadḍha-ṇayana nehem paluṭṭā ||**

The verse is also cited by Svayambhū (S.C. IV 10.2) under the name of a poet Govinda. Svayambhū differs in more than one reading from Hemachandra, and the original features do not seem to be preserved, as we have *joei* for *joedi* and *ditṭhi* for the characteristic *drehi*.

Here also the metre is Mātrā. We have a present third person singular form with the-*edi* ending and another form (*drehi*) that preserves -*r*- in a cluster.

5. Noting briefly this characteristic of Apabhraṃsa, Namisādhu has cited in his commentary on Rudraṭa's Kāvya-lamkāra (II 11-12) the following verse-line to illustrate the preservation of -*r*- in a cluster -

**gotru gaṃjīdu malīdu cārītu |**

This seems to be the first Carāṇa of a Mātrā stanza, and it also exhibits the characteristic of the change of -*t*- to -*d*-.

6. The Apabhraṃsa illustration cited in ŚP. on p. 121 (jaivi° ga° ḍahī xx etc.), although considerably corrupt, is most probably in the Mātrā metre and contains present third person singular forms in -*adi* (see 'Prakrit Verses in Works on Sanskrit Poetics', I, Appendix, p. 6, no. 9).

7. The illustration of the Raḍḍā metre given under CH. V 23 is as follows -

**luṃdhīdu caṃḍaṇa-vallī-pallaṃki  
saṃmilīdu lavaṃga-vaṇi, khalīdu vatthu-ramaṇiya-kayalīhim |  
ucchalīdu phaṇi-layahim, ghulīdu tarala-kallola-lavalīhim ||  
cuṃbīdu māhavi-vallārihim, pulāida-kāmi-sarīru |  
bhamara-saricchāu saṃcarādi, raḍḍāu malaya-samīru ||**

Herein we have numerous forms showing the change -*t*- > -*d*-. It should be noted that in the numerous illustrations given by Hemachandra to illustrate varieties of the Matra metre (under CH. V

17-22) the present third person singular forms have the usual Māhārāṣṭrī ending *-ai*. The above-cited illustration is the only exception.

8. In Virahāṅka's Vṛttajāṭisamuccaya (IV 31) the following Duvahaa (*dvipathaka, doha*) occurs in the definition of the Raḍḍā metre –

**eahu mattahu amtimahu, jaṃvihi ḍuvahau bhrodi (? brodi) |  
to tahu ṇāmem raḍḍa phuḍu, chaṃdai kai-jaṇu bhrodi (? bhodi) ||**

The form *bhodi* in the first line is given by Hemacandra (8-4-273, 274) as a characteristically Śaurasenī form. *bhrodi* (most probably corrupt for *brodi*) in the second line is an *r*-preserving form.

9. Hemacandra has given *bruw-* (Skt. *bru-*) as characteristic of Apabhraṃśa (8-4-391), and he has cited *bruwaha*, *broppi*, and *broppinu* as illustrations.

10. In a passage in Uddyotana's Kuvalayamālā that gives the reactions and the advice of the village elders to the hero who has prepared to burn himself on a pyre to atone for his sins the language is full of rustic colloquialisms (Part I, p. 63, lines 18-26). All the four relevant statements are given in the Mātrā metre (lines 18, 20, 22-23, and 25-26). The notable forms are –

**(18:) prāraddhaṃ, prai (for praim), protu, bhrati, saṃprati;  
(20:) viraidu, saṃprati, brollitaṃ, prāraddhu; (22-23:) prāvu,  
vrata; (25-26:) bhramiti, prāvesi, mitra-drojju.**

The abundance of *r*-preserving forms and one form with the change *-t- > -d-* – besides those that preserve the original intervocalic *-t-* – are noteworthy<sup>3</sup>. The Kuvalayamālā was completed in 779 A.D.

11. In the following Prakrit verse, occurring in the Vasudevahiṇḍī of Saṅghadāsagaṇi (about 6th century), we find an admixture of Apabhraṃśa forms –

3. A. N. Upadhye has noted these traits. See Kuvalayamālā II. Introduction, pp. 80 and 82. Forms like *prāvu* (< Skt. *pāpam*) with intrusiver *r* have been noted as a peculiarity of Apabhraṃśa by Namisādhu (see '5' and '13') and Hemacandra (8-4-399, illustration *vrāsu* < *vyāsaḥ*). This trait was inherited by Gujarati as can be seen from numerous instances like *karod*, *śrāpa*, *sarāṇ*, *kāindri*, *karolio*, *truthvu*, *trābu*, *mathrāvati*, etc. See Anuśilano, pp. 149-53, and Vyutpattivācār, p. 156. – In Puṣpadanta's Mahāpurāṇa (972 A.D.) we find three such instances: *uru* < *budhaḥ* (16, 11.7), *vrāsu* < *vyāsaḥ* (98, 8.6), *vrahiu* > *vadhitaḥ* (99, 3.5).

**pāsīm kappiṃ cauramsiya revā-paya-puṇṇiyam  
seḍiyam ca geṇheppi sasi-ppabha-vaṇṇiyam ।  
mairiṃ suyam pi ekkalliyam sayāṇi ṇivaṇṇiyam  
savva-rattiṃ ghosei samāṇā-savaṇṇiyam ॥ (p. 28)**

Here the absolutive forms *kappiṃ* and *geṇheppi* are specially noteworthy. We are reminded of similar forms such as *broppiṇu*, *broppi*, *jeppi*, *gaṃpi*, *gameppi*, *jiṇeppi* occurring in the illustrations cited by Hemacandra (8-4-391, 440, 441, 442). The second illustration given by Hemacandra in 442 contains also the 'Śaurasenī' forms *kīladi*.

12. From the above-noted instances it is quite clear that in the case of the Apabhraṃśa verses in the Mātrā and Raḍḍā metres there was a consistent tradition of using *-r-* preserving forms and forms with voiced stops. Mātrā, along with its extension Raḍḍā, seems to be among the earliest Apabhraṃśa metres.

Svayambhū (ninth century) was familiar with a narrative poem of Govinda possibly composed wholly in the Raḍḍā metre. He has cited six Mātrās of Govinda, one each of Chaila and Suddhaśīla, one anonymously; one Raḍḍā of Jinadāsa, and one anonymously<sup>4</sup>. But due to the late date of the manuscripts these verses have not preserved their original phonological features. Bhāmaha's remark that self-standing verses, i.e. Muktakas, were composed in such metres as Gāthā (Prakrit), Śloka (Sanskrit), and Mātrā (Apabhraṃśa)<sup>5</sup> also supports our observations.

13. It appears that such poems in the Mātrā and Raḍḍā metres represent an early stratum of Apabhraṃśa poetry as compared to the bulk which consists of the later "Sandhibandha" and other types of Mahākāvya in standardized Apabhraṃśa that developed under the impact of literary Māhārāṣṭri. The illustrations under Siddhahemacandra 8-4-396 with voiced intervocalic stops, and several forms which preserve *-r-* in clusters (PISCHEL § 268) can be assigned to that early stratum. Phonologically, these latter traits had come to be known as distinguishing marks of Apabhraṃśa as can be seen from

- 
4. But due to the late date of the manuscripts, these verses have not preserved all the original phonological features.
5. Kāvyaśāstram I.30 : anibaddham punar gāthā-śloka-mātrādi tat-punaḥ ! Here the word *mātrā* has so far invariably been misinterpreted.

the following two illustrations of the Bhāṣā-śleṣa of Sanskrit and Apabhraṃśa given by Rudraṭa :

**dhīrāgacchadume hatamududdharavārisadassu |**

**abhramadaprasarāharāṇu ravikiraṇā tejassu || (Kāvyaśleṣakāra, IV 15)**

**kṛidanti prasaranti madhu, kamālā-praṇayi lihanti |**

**bhramarā mitra suvibhramā, mattā bhūri rasanti || ( ibid. IV 21)**

Namisādhu, in his brief summary of Apabhraṃśa grammar (which most probably has been reproduced from an earlier source) has given four phonological characteristics of Apabhraṃśa and has illustrated them appropriately- (1) Preservation of the postconsonantal *-r-* in source-cluster as in *bhrāyaru*. (2) Interpolation of an unorganic *-r-* as in *vrācālau*. (3) Change of intervocalic *-t > -d-* as in 'gotru gaṃjidu...' (already cited under '5' above). (4) Preservation of *r* as in '*ṛṇa-samu gaṇijai*'.

The absolutives in *-ppi* also seem to be an archaic feature. In the passages discussed above we find together forms with voiced consonants, absolutives in *-ppi*, and *r*-preserving clusters. We can also note in this connections the form *prassadi*, for which Hemacandra has provided a separate rule (8-4-393). Now it is well-known that, in the transmission of Apabhraṃśa texts, original forms with *r*-clusters (as also those with *r* in the Sanskrit source-form) were changed to *r*-less forms under the influence of Prakrit. See ALSDORF'S discussion in his Introduction to the Harivaṃśapurāṇa (pp. 137 ff.). ALSDORF has observed that the manuscript 'C' used by him for editing the text has seventy-five instances of such forms<sup>6</sup>. Even in later works we occasionally find instances of *r* and *ṛ* preserved. The Kavidarpaṇa (ca. 12th century), for example, has '*trāsai mṛga-gaṇu*' in the verse given to define and illustrate the Apabhraṃśa metre Pañcānanalalitā (p. 23, verse 14.1).

14. Quite obviously, we do not know for certain whether the special Apabhraṃśa features noted above characterized early Apabhraṃśa in general, or were regional, i.e. 'dialectal', traits. Scholars have suggested that the preservation of *r* was possibly a

6. This traits is also inherited by Gujarati which has numerous words, derived from Sanskrit, which have preserved *r* from the cluster in the source-word.

7. When I undertook to analyse the Apabhraṃśa of the Saṃdeśarāsaka in 1945, I was apparently guided by the views of H. JACOBI and L. ALSDORF regarding the dialectal variation in Apabhraṃśa (Saṃdeśarāsaka, Introduction, pp. 4 and 25).

distinctive characteristic of the Vrācaḍa variety of Apabhraṃṣa. But there is little actual evidence to support this speculation.

Since long it has become clear that modern efforts to interpret and account for variations in literary Apabhraṃṣa as sectarian (e.g. H. JACOBI, L. ALSDORF) or regional varieties (e.g. G.V. TAGARE) were based on wrong assumptions and on misunderstanding of the available evidence, which itself was partial.<sup>7</sup>

15. The language of the Vasudevahiṇḍī-Madhyamakhaṇḍa (ca. 700 A.D.) provides good evidence for the use of Śaurasenī in narrative prose, besides its long-established employment in the prose of Sanskrit drama under specific conditions. In the language of the Madhyamakhaṇḍa we quite frequently find the intervocalic *-t-* unchanged, and perhaps equally frequently we find it changed to *-d-*. Voicing of unvoiced aspirates and preservation of voiced intervocalic stops are also frequently met with. See pp. 37 and 41 of the Introduction to the Madhyamakhaṇḍa. Originally, the number of cases might have been greater still in view of the fact that the language of our rather late manuscripts is modernized. On p. 42 of the Introduction to the Madhyamakhaṇḍa the editors wrote: "... here we have in the Vasudevahiṇḍī-Madhyamakhaṇḍa a Śvetāmbara work whose Prakrit has Śaurasenī phonological elements comparable to what we find in the Prakrit of Digambara works". It seems probable that, during the middle centuries of the first millennium, literary Apabhraṃṣa was marked by Śaurasenī phonological features<sup>8</sup> while later Apabhraṃṣa was characterized by Māhārāṣṭri features. There were a few other peculiar features in Apabhraṃṣa which also changed in the course of time. The source-work of Namisādhu's extract on Apabhraṃṣa (see '13' above) and the concluding rule in Hemacandra's treatment of Apabhraṃṣa, i.e. 8-4-446 (*śaurasenīvat* : this obviously overlaps on 8-4-396) – along with a few other rules – account for peculiar traits of the language of a specific body of texts which represent early Apabhraṃṣa literature.

---

8. This 'archaic' Apabhraṃṣa (i.e. archaic from the perspective of the later standardized Apabhraṃṣa) has a parallel in 'archaic' Prakrit, from the language of Bharata's Dhruvās onwards. – In the Mṛcchakaṭika, the language of the gambler Māthura is Ḍhakkī according to the commentator. In this dialect, nominative singular forms of masculine a-stems have the ending *-u*, which is also characteristic of Apabhraṃṣa. It is noteworthy that Ḍhakkī also has some forms that demonstrate the change *-t- > -d-*. – Similarly, the fact that, in manuscript 'C' of Caṇḍa's prākṛtalakṣaṇa, Apabhraṃṣa is treated along with Śaurasenī is quite significant.

- 
- Anuśilano (in Gujarati).  
H.C. BHAYANI. 1965
  - Chandonuśāsana of Hemacandra.  
ed. H.D. VELANKAR 1961 (abbreviated as CH.).
  - Comparative Grammar of the Prakrit Languages.  
R. PISCHEL (Transl. SUBHADRA JHA) 1965. Refer also to the Apabhraṃśa supplement;  
R. PISCHEL Materialien zur Kenntnis des Apabhraṃśa Berlin 1902.
  - Harivaṃśapurāṇa [from the Mahāpurāṇa of Puṣpadanta].  
ed. L. ALSDORF 1936.
  - Kavīdarpaṇa (anonymous).  
ed. H.D. VELANKAR 1962.
  - Kāvyaśāstrakāra of Bhāmaha
  - Kāvyaśāstrakāra of Rudraṭa with Namisādhu's commentary.  
Kāvyaśāstrakāra Series, 3rd edition 1928. — Namisādhu's commentary on II 11-12 is reproduced in L. NITTI-DOLCI's 'The Prakrit Grammarians' (Transl. PRABHAKARA JHA) 1972. pp. 166-169.
  - Kuvalayamālā of Uddyotanasūri.  
ed. A.N. UPADHYE I (1959), II (1970).
  - Mṛcchakaṭīka of Śūdraka
  - Prakrit Grammar of Hemacandra.  
ed. P.L. VAIDYA 1958.
  - Prakrit Verses in Works on Sanskrit Poetics.  
ed. V.M. KULKARNI, I (1988), II (1990).
  - Prākṛtalakṣaṇa of Caṇḍa.  
ed. A.F.R. HOERNLE 1880.
  - Saṃdeśarāsaka of Abdula Rahamāna.  
ed. Muni Jinavijaya 1945. With an introduction by H.C. BHAYANI.
  - Śṛṅgāraprakāśa of Bhoja.  
ed. G.R. JOSYER. Part I 1955 (ABBREVIATED as ŚP.) JOSYER has published the complete ŚP in four parts (1955, 1963, 1969, no year).
  - Svayambhūchandas of Svayambhū.  
ed. H.D. VELANKAR 1962 (abbreviated as SC.).
  - Vasudevahiṇḍī of Saṅghadāsagaṇi.  
ed. MUNI CATURAVIJAYA AND MUNI PUNYAVIJAYA 1989 (reprint).
  - Vasudevahiṇḍī-Madhyamakhaṇḍa of Dharmasenagaṇi.  
ed. H.C. BHAYANI, R.M. SHAH 1987.
  - Vṛttajāṭisamuccaya of Virahāṅka.  
ed. H.D. VELANKAR 1962.
  - Vyutpattivicār (in Gujarati)  
H.C. BHAYANI 1975.

